समाधिभक्ति प्रवचन

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी ''सहजानन्द'' महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर,इन्दौर

Online Version : 001

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक '**समाधिभक्ति प्रवचन**' अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यावहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है।

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्य वर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरूतर कार्य किया गया है।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को http://www.sahjanandvarnishastra.org/वेबसाइड पर रखा गया है।

इस कार्य को सम्पादित करने में **श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर** इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। ग्रन्थ के टंकण कार्य में **श्रीमती मनोरमाजी, गांधीनगर, इन्दौर** एवं प्रूफ चेक करने में **श्रीमती प्रीति जैन, इन्दौर** का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छाबड़ा
53, मल्हारगंज मेनरोड़
इन्दौर (म०प्र०)
Phone-0731-2410880, 9753414796
Email-vikasnd@gmail.comwww.jainkosh.org

आत्मकीर्तन

हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता दृष्टा आतमराम।।टेक।।

मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान।।

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान।।

सुख दुःख दाता कोई न आन, मोह राग रूष दुःख की खान।
निज को निज पर को पर जान, फिर दुःख का नहीं लेश निदान।।

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम।।

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम।।

अहिंसा परमोधर्म

आत्म रमण

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूँ।।टेक।।

हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण।
हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मैं दर्शन॰ ,मैं सहजानंद॰।।१।।

हूँ खुद का ही कर्ता भोक्ता, पर में मेरा कुछ काम नहीं।
पर का न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं दर्शन॰ ,मैं सहजा॰।।२।।

आऊं उतरूं रम लूं निज में, निज की निज में दुविधा ही क्या।
निज अनुभव रस से सहज तृप्त, मैं दर्शन॰ ,मैं सहजा॰।।३।।

Table of Contents

प्रकाशकीय .....- 2 -

आत्मकीर्तन .....- 3 -

आत्म रमण .....- 4 -

श्लोक 1 1

श्लोक 2 9

श्लोक 3 29

श्लोक 4 40

श्लोक 5 46

श्लोक 6 52

श्लोक 7 54

श्लोक 8 57

श्लोक 9 63

श्लोक 11 83

श्लोक 12 90

श्लोक 13 103

श्लोक 14 114

श्लोक 15 119

श्लोक 16 122

श्लोक 17 125

श्लोक 18 128

श्लोक 19 133

समाधिभक्ति प्रवचन

[प्रवक्ता: अध्यात्मयोगी पूज्य श्री 105 क्षुल्लक मनोहर जी वर्णी 'सहजानन्द' महाराज]

श्लोक 1

स्वात्माभिमुखसंवित्तिलक्षणं श्रुतचक्षुषा।
पश्यन्पश्यामि देव त्वां केवलज्ञानचक्षुणा।।1।।

समाधिभाव का देवत्व– समाधि कहते हैं सम्यक् प्रकार से आधीयमान अर्थात् रखे जाने वाले, संभाल कर प्रवर्तने वाले भाव को। अपने आपमें अपना उपयोग ऐसा संभाला हुआ रहे कि अपने आपमें ही समाया हुआ हो, जिसमें किसी भी प्रकार का उद्वेग नहीं, क्षोभ नहीं, बाहर का झाँकना नहीं, अपने आपमें रत समाया हुआ जो परिणाम है उसे समाधि कहते हैं। और समाधि ही भगवान है, समाधि ही देव है। तो चाहे समाधि की भक्ति कहो, वीतराग की भक्ति, परमात्मा की भक्ति कहो, इसका नाम है समाधिभक्ति। हे देव ! मैं आपको श्रुतज्ञान रूपी नेत्र से देखता हुआ अब केवल ज्ञानरूपी नेत्र से देखता हूं, यही भगवान की भक्ति करने की विधि है। बाहर के भगवान की बात नहीं कही जा रही, स्थापित मूर्ति की बात नहीं कह रहे, किन्तु भगवत् स्वरूप के दर्शन की विधि यह है। पहिले भगवान का निर्णय करिये कि भगवान क्या है? अपने आत्मा के अभिमुख सम्वेदन होना, ज्ञान होना, बस ऐसी स्थिति जहां है, उसी को भगवान कहते हैं, वही देव है। हम प्रभु को निरखें तो इस रूप में निरखें कि प्रभु क्या है? प्रभु का जो निज आत्मतत्त्व है ज्ञायकभाव आनन्दस्वरूप, उस स्वरूप की ओर अभिमुख जो सम्वेदन है, ज्ञान है, जिनकी ऐसी समजानकारी है कि जहां उतार-चढ़ाव नहीं, जहां रागद्वेष नहीं, जहां हीनाधिकता नहीं, केवल एक ज्ञानस्वरूप निज आत्मतत्त्व के अभिमुख सम्वेदन चल रहा है, बस वही देव है।

देवदर्शनविधान- हे देव ! तुमको मैं पहिले तो श्रुतज्ञान नेत्रों से ही देख सकता हूं। यदि यह श्रुत (शास्त्र) न होता, संतपरम्पराओं से भगवान के मूल आधार से चला आया हुआ यह ज्ञान न मिलता तो भगवान को मैं कैसे समझ पाता? तो सबसे पहिले तो श्रुतज्ञानरूपी नेत्रों से आपको देख रहा हूं और श्रुतज्ञानरूपी नेत्रों से आपको देख रहा, इस देख रहे के बीच ही जब भगवान का और मेरा साक्षात्कार होता है, उस काल में परोक्षता न रहने से एक साक्षात् दर्शन अनुभव होने के समय में अब मैं केवल (सिर्फ) ज्ञानरूपी नेत्रों से देख रहा हूं। उस ही स्वरूप के निरन्तर देखते रहने का नाम है समाधिभाव। जब कहा जाए कि इसकी आयु अतिनिकट है, मरण होने में एक आध दिन और शेष रह गया है तो इसका समाधिमरण करावो। तो समाधिमरण का अर्थ केवल यह नहीं है कि पानी वगैरह सब कुछ छुड़वाकर इसको ऐसे ही लिटाये रहो। समाधि का अर्थ है ज्ञानानन्दस्वरूप निज आत्मा के अभिमुख इसका उपयोग रहे- ऐसी स्थिति इसकी बना दी जाए, यह है समाधिमरण कराने की बात और यही है उस आत्मा का आदर।

समाधिभाव के यत्न की आदेयता और परिजनों द्वारा वास्तविक आदर- जिस जीव के साथ यह 10-20-50 वर्ष का जीवन गुजरा, जिस जीव से बड़ा रागस्नेह रखा, जिसे अपना मानकर बड़े संतोष, विश्राम और तृप्ति से रहे, उस जीव का आदर करना चाहिए। अब मरण समय में कि जिस प्रकार बने, इस जीव को मुझमें भी मोह न हो। सब परिजनों को ऐसा सोचना चाहिए कि अब इस जीव को मुझ तक में भी मोह का भाव न आये। और इसका ज्ञान अपने आपके आत्मा के स्वरूप की ओर बना रहे- ऐसी भावना बनायें और ऐसे उपदेशकों को ला-लाकर बैठा लें, ऐसा यत्न करायें तो यह कहलाएगा अपने परिवार के जीव का सच्चा आदर करना और समाधिमरण कराना। मरण समय में प्राय:कर जीवों को कुछ न कुछ कष्ट आता है राग का। किस प्रकार की कब कैसी वेदना आ जाए तो मरण समय में प्राय: ऐसा हुआ करता है। उस समय उन उपसर्गों को सह सके, उन व्याधियों को सह सके, इस प्रकार का अपना ध्यान और उपयोग बनाना चाहिए।

एकमात्र समाधिभाव की शरण्यता- इस जीव का शरण केवल समाधिभाव है और यह समाधिभाव मरण के समय ही किया जाए, सो बात नहीं, प्रति समय किया जाए; क्योंकि सब जीवों का प्रतिसमय मरण हो रहा है। जैसे जो आज का मेरा दिन गुजरा, वह आज के दिन का मेरा मरण हो गया कि नहीं? लोग कहते हैं कि अब हमारी उम्र 50 वर्ष की हो गई तो हम 50 वर्ष मर गए कि नहीं? मानों किसी की कुल आयु 60 वर्ष की ही है और उसके 50 वर्ष व्यतीत हो गए तो 50 वर्ष तो वह मर गया। केवल 10 वर्ष उसके और शेष रह गए। तो इस जीव का जो क्षण प्रतिक्षण गुजर रहा है, वह उसका मरण है। यह तो है समय की अपेक्षा मरण और विकल्प, विषय, कषाय, शल्य, बाह्यपदार्थों की दृष्टि जो हो रही है, यह हो रहा है भावमरण। तो ऐसे इस मरण के समय समाधिभाव का आदर करना चाहिए। हम आपको एक समाधि ही शरण है।

दूसरों की दृष्टि में इज्जत चाहने का असमाधिभाव- समाधि से विपरीत अन्य भाव जैसे कि अनेक मनुष्य सोचते हैं कि समाज में अगर इज्जत से जिये तो वह जीना है। और उनकी वह इज्जत क्या? दूसरे लोगों की दृष्टि में हम इज्जत से जियें, इसका अर्थ यह है कि दूसरे लोग हमको कुछ अच्छा मानें और दूसरों में हम बड़े कहलायें। दूसरे सब लोग मान जाएँ कि हाँ, यह हैं नेता, यह हैं बड़े अधिकारी। इनके हाथ में बडी-बडी ताकतें हैं। बस ऐसा कुछ लोग कह दें, मान जायें, इसके मायने हैं दुनिया में इज्जत से जीना। लेकिन जो लोगों की निगाह में इज्जत से जीना चाहता है, उस पर मिथ्यात्व ही तो लदा हुआ है। ये लोग मुझे समझें तो मेरा सुख है। मेरा हित हो तब तो मैं सचमुच में कुछ हूं- ऐसी वासना में इस जीव ने आपके स्वरूप की सुधि बिलकुल खो दी है।

दूसरों को अनुकूल कर सकने की अशक्यता- और भी देखिये कि दूसरे लोग ये सब भिन्न पदार्थ हैं और साथ ही ये हैं चेतन। इनके लगे हैं विषय कषाय, इनमें बसी है खुदगर्जी, सो इनको मानना, इनको

अनुकूल करना, यह तो जिन्दा मेंढकों को तौलने की तरह है। बहुत से मेंढक जहां उछल-कूद रहे हों, वहां कोई सोचे कि मैं एक किलो जिन्दा मेंढक तौल लूँ तो वह तौल नहीं सकता। कुछ मेंढक तराजू पर वह रखेगा तो कुछ मेंढक उछल जायेंगे अथवा तराजू पर ही उछलते-फुदकते रहेंगे। उनकी सही तौल करना कठिन है। इसी तरह इन चेतनों को अनुकूल बनाना, इनको मनाना कठिन है।

खुदगर्जी से शरण में आने वालों के प्रति मोहियों का भ्रमवश मोह- बड़े-बड़े दुनिया के नेता, अधिकारियों के प्रति भी यदि कुछ लोग अनुकूल बनते हैं तो वे अपने स्वार्थ, अपने किसी प्रयोजन के कारण बनते हैं। जब किसी छोटे बच्चे को कोई शरण और जगह नहीं दिखती, तो वह अपने पापा से चिपटकर बैठता है और यह पापा (पापस्वरूप) मानता हैं कि यह बच्चा मुझसे बड़ा प्रेम करता है, यह बड़ा प्यारा है और वहां वह लड़का प्यार से नहीं आया पापा के पास। उस बेचारे को यही शरण जँच रहा है कि यही मेरी रक्षा है और वह पप्पा पापस्वरूप बनकर मानता है कि यह बच्चा मुझसे बड़ा स्नेह करता है। तो बड़े से बड़े दुनिया के नेता और अधिकारी के प्रति भी अगर कोई कुछ अनुकूल बनता है तो उससे प्रेम से अनुकूल नहीं बनता, किन्तु वह खुदगर्ज है, जिससे प्रेरित होकर वह चेष्टा करता है। तो दुनिया की निगाह में हम इज्जत वाले बनें, इस भाव से प्रेरित होकर अपने स्वरूप से चिग-चिगकर बाहर में कितने विकल्प किया करते हैं? यह है समाधि का उल्टा भाव।

समाधि के अनुकूल और प्रतिकूल भाव का विवरण- अब देखिए कि समाधि के अनुकूल भाव क्या होता है? मैं अपनी निगाह में इज्जत वाला बन जाऊँ, दुनिया मुझे इज्जत वाला समझे या न समझे, उससे मुझे कुछ प्रयोजन नहीं, किन्तु मैं तो जचूँ अपने आपके लिए कि मैं ठीक जिन्दगी से जी रहा हूं, मैं अपने आपमें अपना ठीक काम कर रहा हूं, वह है खुद का जीना। और वह है क्या? समाधिभाव। जरा सा बड़प्पन मानकर थोड़ी थोड़ी बात में गुस्सा आ जाना और गुस्सा लाकर साथ ही यह भी समझ बनाते हैं कि मैं बिलकुल ठीक गुस्सा कर रहा हूं। आखिर इसको यों करना चाहिए, इसकी गलती है, इसकी असभ्यता है, इसको दण्ड दूं, इस पर गुस्सा करूँ तो मैं बड़ी समझदारी कर रहा हूं। यद्यपि गृहस्थी में कुछ पद ऐसे होते हैं कि दण्ड देना चाहिए न दें तो उस पर अन्याय है। तो यह एक कर्तव्य की बात है, लेकिन चित्त में ऐसा भ्रम होना कि इस पर मेरा अधिकार है, यह ही मेरा सब कुछ है, इससे ही मेरा बड़प्पन है, इससे ही मेरी जिन्दगी है और फिर उनकी कोई प्रतिकूलता होने पर क्रोध आए तो यह समाधि से बिलकुल विपरीत भाव है।

पात्रों के प्रति ज्ञानियों का बर्ताव- जैसे साधु संग में जो आचार्य होता है, वह अनेक मुनियों को शिक्षा और दण्ड भी देता है और क्रोध भी करता है, लेकिन उनके पीछे नहीं पड़ता है। वे शिष्यमुनि विनयपूर्वक अपने कल्याण की चाह से निवेदन करते हैं कि हे महाराज ! आप ही शरण हो। तो इतनी उनकी जिज्ञासा समझते हैं, तब आचार्य उनको कृपा करके दण्ड आदिक देते हैं। पर मान न मान, मैं तेरा

महिमान- यह प्रवृत्ति आचार्यों की नहीं होती कि जबरदस्ती 7 मुनिओं को संग में कर ही लें। लोग कहेंगे कि यह सप्तऋषि संग है। उनमें कोई भागने लगे तो मनायें, हमारे संग में कमी न हो जाए, इसलिए उनको मनाते फिरें अथवा उनको इसीलिए प्रसन्न रखने की फिकर में रहें- ऐसा वे आचार्यजन नहीं किया करते। हाँ, कोई मुनि कई बार कहे कि हे महाराज ! हम अब इस संसार से बहुत ऊब गए हैं, मुझे अब संसार की किसी भी चीज की चाह नहीं रही, आप हमें अपनी शरण में लीजिए। तब वे आचार्य करूणा करके उनको शिक्षा दीक्षा और दण्डादि देते हैं। यह बात तो है साधुजनों की, लेकिन जैसा साधुजन करते हैं, परजीव के प्रति वही विधि तो किसी न किसी अंश में गृहस्थों की होनी चाहिए, क्योंकि सम्यक्त्व की पद्धति तो एक है। साधु का जीवन और है, गृहस्थ का जीवन और है; मगर साधु की और गृहस्थ की आदत एक है।

ज्ञानी गृहस्थ और साधुजनों की पर के प्रति निवृत्तिपरता की पद्धति में समानता- साधु अपने समागम में, प्राप्त चेतन अचेतन पदार्थों में ममत्व नहीं रखते। देखो साधुजन पिछी, कमण्डल, पुस्तक के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं रखते। चेतन हैं शिष्यजन। उनके समागम में वे आचार्य रहते हैं, फिर भी उनसे उदास और निवृत्त रहते हैं और उनकी जिज्ञासा को निरखकर उनकी विशुद्ध भावना निरखकर उनसे प्रीति भी करते हैं तथा दण्ड भी देते हैं- ऐसे ही गृहस्थजन भी जो उनको समागम प्राप्त हैं, जैसे खेत, मकान, धन, धान्य, दासी, दास, बर्तन, जेवर, परिजन आदिक। तो गृहस्थ इनमें रहकर भी इनसे निवृत्त रहें, उदासीन भाव से रहें, उन सबके प्रति अपना यह ज्ञान जागृत रखें कि मैं तो केवल इतना ही 'मैं' हूं। मेरा तो केवल अपने आपका गुणपर्याय है, यह तो प्रतीति रखें। और वे परिजन धार्मिक हैं, वे चाहते हैं कि मैं भी धर्ममार्ग में लगता रहूं, ऐसा समझकर गृहस्थी के योग्य कर्तव्य निभाकर अपने घर के बड़े के प्रति एक यह भाव बनायें कि मेरे उद्धार के लिए आप शरण हैं। तो अन्तर में निवृत्ति रखते हुए वे परिजन से स्नेह करते हैं। यदि घर के उस बड़े के कहने में उसके पुत्रादिक नहीं हैं, विपरीत मार्ग में चलते हैं तो फिर वह उनके पीछे क्यों हैरान हो? मगर मोही गृहस्थ तो मान न मान, मैं तेरा महिमान बनकर रहता है। उस गृहस्थ के घर के लड़के, लोग चाहे उससे बिलकुल विपरीत चलें, कष्ट भी दें, फिर भी वह बाप उन्हें अपना मानता है। तो उस गृहस्थी का वह जीवन किस काम का?

हार्दिक विनय तक सुधार की पात्रता- गृहस्थ का कोई पुत्र कुछ समझ सकने योग्य है, अच्छा बनने का पात्र है। तो मानों आज वह पुत्र विपरीत मार्ग पर है तो वह कभी अच्छा भी हो सकता है। एक सेठ का लड़का वेश्यागामी था। सेठ के एक मित्र ने कहा कि आपका लड़का वेश्यागामी है। सेठ ने कहा कि ऐसा नहीं हो सकता। मित्र ने कहा कि चलो, हम चलकर दिखायेंगे। वह सेठ को लेकर चल दिया। उसने वेश्या के घर से कुछ दूर खड़ा होकर दिखा दिया कि वह देखो, वेश्या के घर पर अपना लड़का। सेठ ने भी देख लिया। उस समय उस सेठ के लड़के ने अपने पिता को देख लिया और तब वह लड़का इतना

शर्मा गया कि अपने हाथ की अँगुलियों से अपने नेत्र बन्द कर लिए और तुरन्त घर वापिस लौट आया। सेठ भी घर लौट आया। मार्ग में सेठ के मित्र ने कहा कि देखो मैं कहता था ना कि तुम्हारा लड़का बिगड़ गया। तो सेठ बोला कि अभी हमारा लड़का बिगड़ा नहीं। वाह कैसे नहीं बिगड़ा? हमने तो आपको वेश्या के घर जाते दिखा दिया। तो सेठ बोला कि अभी हमारे बेटे में आन है। बाद में सेठ ने उस बेटे को बुलाकर कुछ समझाया तो वह बेटा पहिले तो कुछ लज्जित सा हुआ और बाद में प्रतिज्ञा की कि आज से मेरा जीवनभर के लिए उस काम का त्याग है। तो यों ही समझिये कि जब तक शिष्य में आन है, तब तक आचार्यजन उसे अपने पास रखते हैं, उसे शिक्षा, दीक्षा, दण्ड आदि देते हैं। नहीं तो आन न रहने पर आचार्यजन अपने शिष्यों के पीछे नहीं पड़ते।

ज्ञानी साधु श्रावकों में निवृत्तिपरता की प्रकृति- भैया ! चाहे गृहस्थ हो या चाहे साधु, सम्यग्दृष्टियों की प्रकृति निवृत्तिपरक होती है। फर्क पड़ जाता है केवल समागम से। साधु है निर्ग्रंथ तो उसकी और तरह के स्नेह, राग और प्रवृत्तियाँ होती हैं। और गृहस्थ के हैं बहुत सी खटपटें तो उसकी और तरह के स्नेह, राम और प्रवृत्तियां होती है परिग्रह से निवृत्त रहने की भावना और अपने आत्मा के अभिमुख उपयोग लगाये रहने की याद गृहस्थ के भी बराबर रहती है, जो कि सम्यग्दृष्टि है। और इस वातावरण के द्वार से देखो तो साधु संतों को अपनी समता बनाये रखने में कठिनाई नहीं पड़ती, क्योंकि न दुकान है, न रोजिगार, न सम्बन्ध, न नाते-रिश्ते, न कोई भार। पक्षी की तरह फिरते हैं। जैसे पक्षी जब तक मन लगा तो बैठा है, मन में आया तो फुर्र से उड़ गया, चल दिया, इसी तरह जब तक परिणाम लग रहा है ठीक, तब तक रह रहे हैं, मन आया तो चल दिया। यों पक्षीवत् जिनका विहार है और जैसे पक्षी कहीं एक ही जगह नहीं रह जाता, उसकी आदत में एक जगह रहना नहीं है, वह उड़कर जायेगा कहीं न कहीं और फिर लौटकर चाहे आए; इसी तरह का जिन साधुसंतों का स्वतंत्र विहार है, उन्हें समतापरिणाम रखने में कठिनाई नहीं पड़ती। मगर गृहस्थों का तो बड़ा उपसर्ग है। साधुजन 22 परिषह जीतते हैं तो श्रावकों को हजारों परिषह जीतने पड़ते हैं। कितने नटखट, कितने समागम, कितने उपयोग हैं और उन सबसे घबड़ाना नहीं, उन सबके बीच भी अपने आपको अपने आपमें रमायें। बाह्यपदार्थों में मोह, स्नेह रमाकर अपनी स्वरक्षा को खतरे में न डालें। तो गृहस्थ को तो बड़े-बड़े उपसर्गों पर विजय करनी पड़ती है। तो ऐसा जो समाधिभाव है, समतापरिणाम है, वही एक शरण है हमें आप सबका। समाधिभाव से विपरीत अन्य कुछ भी हम आपका शरण नहीं है।

अपने जीवन में एकमात्र कर्तव्य के निर्णय का यत्न- भैया ! अपनी जिन्दगी का निर्णय बना लें कि हमें करना क्या है जीवन में? मोही, कर्म के प्रेरे, जन्म-मरण के दुखिया, स्वयं अशरण अनेक पापकर्म को बसाने वाले मिथ्यादृष्टि अज्ञानी मनुष्यों में अपनी इज्जत बनाने के लिये यह हम आपकी जिन्दगी है या सहजानन्द स्वरूप ज्ञायकभावमय आकाशवत् अमूर्त निर्लेप, दुनिया को अवक्तव्य और अपने आपकी दृष्टि

में समझ में आ सकने वाले इस निज आत्मदेव की निगाह में अपने को परमार्थ इज्जत वाला रखने के लिए जीवन है। बस, इन दो निर्णयों से कोई निर्णय बना लीजिए। जिसमें कल्याण जँचता हो, जिसमें तत्काल शान्ति भी जंचती हो वह निर्णय कर लीजिए। जिस वातावरण में, जिस प्रक्रिया में अपना उपयोग अपने आपके निकट रहे, करना ही होगा। संग से हटकर, उस प्रक्रिया से हटकर जहाँ बेतुके अटपटे नाना मोहियों के दर्शन होते, व्यवहार होते, बातचीत होती, वह संग वह वातावरण यदि दुनियावी इज्जत बढ़ाने के लिए प्रेरित करता है, तब यों समझिये कि रोज भूल करना और उस भूल की थोड़े से जरा से समय को अपनी सूचना दे देना, सब ये ही दो काम किए जा रहे हैं। यों गृहस्थ सावधान हैं, धर्म की ओर जितनी प्रीति है वे क्या काम करते हैं? 10-15 मिनट तो इन चौबीस घंटों के अन्दर अपनी भूल की याद कर लेते हैं। वह सब भूल थी और फिर उसके बाद फिर भूल में लग जाते हैं और अनेक जीव तो ऐसे हैं कि भूलों में ही 24 घंटे हैं, 10 मिनट भी भूल मानने को तैयार नहीं होते। इस भूल में, इन समस्याओं में हम आपको कोई तत्त्व न मिलेगा। समाधिभाव का आदर करो।

परमार्थदेवोपासना- अपने भीतर को निहारों कि मैं हूं क्या? क्या मैं कोई रूप, रस, गंध, स्पर्शात्मक पिण्ड हूं? नहीं मैं हूं एक जाननभाव। उसे क्या बतायें? वह तो अमूर्त है, पर सद्भाव जरूर है। हूं ना मैं जिसमें सुख दु:ख का अनुभव होता है। मेरा अस्तित्व तो है लेकिन वह जाननभावरूप मेरा अस्तित्व है। उस स्वरूप की ओर अपना ज्ञान लगे तो यही है आत्मदेव और समाधिभाव। सो हे देव ! निज आत्मा की ओर सम्वेदनस्वरूप मैं तुमको ज्ञानरूपी नेत्र से देखते-देखते केवलज्ञानरूपी नेत्र से देखता हूं। यह है समाधि का सच्चा अभिनन्दन। मुँह से किसी की बात मानने की अपेक्षा उसको कोई कर दे तो वह है सच्चा आज्ञा का मानना। कोई हुकुम दे और किसी ने कह दिया जी हुजूर, और वह करे धरे कुछ नहीं तो आप उसको कहेंगे क्या ऐसा कि यह बड़ा हुकुम मानने वाला है? ऐसे ही कोई भगवान की भक्ति तो खूब करे और तीन लोक के नाथ की जी हजूरी भी करे और उनकी बात एक भी न माने तो इसे प्रभुभक्ति न मानना चाहिये। प्रभुभक्ति तभी है जब हम श्रुतज्ञान नेत्र से तत्त्व निर्णय करके फिर ज्ञानरूपी नेत्र में उस देव का दर्शन करें जो एक निज आत्मतत्त्व के सम्वेदनरूप है। सो हे नाथ ! मैं अब आपको ज्ञानरूपी नेत्र से देखता हूं।

समाधिभाव की प्राप्ति के अर्थ साधक का उद्यमन- समाधिभाव प्राप्त करने के लिए अर्थात् अपने आपमें अपने आपको समा देने के लिए प्रथम तो यह चिन्तन होना चाहिए कि मैं ही यह मैं हूं- इस प्रकार का जो अपने आपके सम्बंध में अपने आपका ज्ञान किया जा रहा है, यह मैं ही मैं हूं, ज्ञानघन आनन्दधाम अनादि अनन्त अहेतुक चित्स्वरूप मात्र अपने आपको निरखकर 'यह ही मैं हूं' इस तरह के आत्मज्ञान के सिवाय अन्य कहीं भी अपनी बुद्धि को न लगायें, जो पहिले बुद्धियाँ जगती थीं मैं इसको करता हूं, मैं इसको भोगता हूं उन बुद्धियों को ज्ञानबल से समाप्त करें, मैं चित्स्वरूप मात्र हूं और परिणमता रहता हूं, वस्तु का ऐसा ही स्वभाव है कि वह है और परिणमता रहता है। पदार्थ में ये दो ही बातें हैं पदार्थ है और प्रतिसमय

परिणमता रहता है। सभी पदार्थों की यही बात है, तो यह मैं भी हूं और परिणमता रहता हूं। इसके अतिरिक्त अन्य कुछ बात नहीं है। मेरे से बाहर मेरा अन्य कुछ नहीं है, तब फिर मैं किसे करता हूं? करने का भाव भर बना रहा हूं। जब कभी भी मैंने बाहर में कुछ किया तो किया नहीं किन्तु बाह्य में करने का भाव भर बनाया था, सो वह भाव भी व्यर्थ था; वह भाव भी अनर्थ था, क्योंकि जो बात की नहीं जा सकती और उसके करने का विकल्प लादना यह तो दु:ख के लिए था। मैं केवल भाव भर बनाता था जो कि झूठ था, अनर्थ और व्यर्थ था, उसका छोड़ना है। तो अनर्थ, व्यर्थ, मिथ्या, विपत्ति के घर को छोड़ने में तो कोई कठिनाई न आनी चाहिए। तो मैं बाहर में इसको करता हूं, इसको भोगता हूं, इस प्रकार के विकल्पों को खत्म करें और यह मैं ही मैं हूं ऐसे अपने चित्स्वरूप को निरखकर अपने आपमें अपना ध्यान बनायें।

समाधिभाव में अहं के विकल्प का भी प्रक्षय- अपने आपमें अहं स्वरूप से आत्मज्ञान करने के बाद फिर समाधि होने के लिए जो कुछ होना चाहिए वह सहज होता है। यत्न की बात तो यहां तक है। पर से विकल्प हटाकर अपने आपमें अपना उपयोग लगाना, अपने सहजस्वरूप को निरखना, इस यत्न के बाद क्या होगा कि मैं ही यह मैं हूं, इस प्रकार की जो अब भीतर के जल्प से सम्बंधित कल्पनायें हुई उनका भी त्याग हो जायेगा, वे कल्पना में भी मिट जायेंगी और उसी समय जो कुछ वचनों के अगोचर परमज्योति स्वरूप का दर्शन होगा बस उस ही को यह अनुभवता है, यह समाधि भाव का एक मर्म है। ऐसी स्थिति में सामर्थ्य है कि भव भव के बांधे हुए कर्म कलंक भी झड़ जाते हैं। ऐसा सहज शुद्ध जो कि इस स्वानुभूति के काल में अनुभव में आ रहा है उस सहज शुद्ध अंतस्तत्त्व में जो उपयोग को लगाता है वह सिद्ध हो जाता है। केवल अपने सत्त्व के कारण जैसा स्वयं है एक प्रतिभासस्वरूप उसे जो उपयोग में लेता है वह ऐसा ही व्यक्त सिद्ध हो जाता है।

स्वच्छता का संकेत- देखिये जैसे दर्पण का निजी तो है स्वच्छ स्वरूप, अब उसमें प्रतिबिम्ब आये या मैल जमे तो यह है बाहरी दोष। यह दर्पण के स्वरूप का दोष नहीं है। बल्कि यह जो दोष आया है, यह भी दर्पण की स्वच्छता को जाहिर कर रहा है। प्रतिबिम्ब कहीं भींत में तो नहीं आ जाता दर्पण में प्रतिबिम्ब आया है तो यह प्रतिबिम्ब का आना यद्यपि उस काल में स्वच्छता का निरोधक है। जहां प्रतिबिम्ब है वहाँ स्वच्छता नहीं रही, लेकिन वह प्रतिबिम्ब स्वच्छता का सूचक है। न होती दर्पण में स्वच्छता तो यह प्रतिबिम्ब नहीं आ सकता था। यों ही अपने आत्मा में निरखिये कि इसका स्वरूप केवल प्रतिभासमात्र है, चैतन्यमात्र है। चेते, जाने, देखे, ऐसी चैतन्य स्वच्छता पर ये रागादिक विकार आ गए हैं तो जिस काल में विकार हैं, जितने अंश में विकार हैं, जिस उपयोग में विकार हैं वहाँ आत्मा की वह प्रतिभास स्वरूप स्वच्छता नहीं प्रकट है, लेकिन ये विकार भी आत्मा के प्रतिभास स्वरूपता का समर्थन करते हैं। न होती आत्मा में चेतना, न होता आत्मा में चित् प्रतिभास तो ये विकार कहाँ से आ सकते थे? कहीं रागद्वेषादिक

के विकार जड़ पदार्थों में तो नहीं आया करते। तो ये विकार भी जीव के उस सहजस्वरूप का संकेत करा रहे हैं, पर संकेत को तो वही समझ सकता है जिसने मर्म जाना हो। संकेत तो संकेत ही है। संकेत के मर्म को जानने वाला ही संकेत समझ सकता है।

अविकारस्वरूप के अनुभवन का यत्न– हमारा यह कर्तव्य है कि इन विकारभावों से हटकर हम स्वच्छता का स्पष्ट अनुभव करें, एक अपने आपमें पहिले तो यह ही मैं हूं, जितना जैसा अपना स्वरूप है उस स्वरूप में अहं का अनुभव करें और उसके बाद फिर स्वयं ही यह मैं हूं, इस प्रकार की जो भीतर में अन्तर्जल्प के द्वारा कल्पनायें उठ रही थीं, उनका भी परिहार होता है और वहाँ ऐसे अंतस्तत्त्व से जो न मोह करता, न राग करता, न द्वेष करना, सर्वविकारों से परे, अविकारी ज्ञायकस्वरूप का दर्शन होता है, ऐसी स्थिति को कहते हैं समाधिभाव। तो हे देव ! अपने आत्मा के अभिमुख जिसका ज्ञान बर्त रहा है, जो ज्ञान बर्त रहा है, ऐसे हे देव ! तुमको मैं प्रथम तो श्रुतज्ञानरूपी नेत्र से देख रहा हूं और श्रुतज्ञानरूपी नेत्र से देखता हुआ यह मैं अब केवल ज्ञानपुन्ज को ज्ञानचक्षु से देख रहा हूं।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान के विशुद्ध अवलम्बन के बल से समाधिभाव का अनुभवन- अपनी वर्तमान अवस्था में पदार्थों के जानने के उपायभूत दो ज्ञान हैं- मतिज्ञान और श्रुतज्ञान। इनका उपयोग कहीं कर लो। विषयभेद से इनकी पद्धति में भेद हो जाता है। यदि विषयकषायों के साधनों में उपयुक्त ज्ञान है, वहाँ श्रुतज्ञान का उपयोग किया तो वहाँ का वातावरण दुषित और आकुलित हो जाता है। और जब केवल आत्मस्वरूप पर मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का उपयोग किया जाता है तो शान्ति का वातावरण छा जाता है। प्रथम तो मतिज्ञान द्वारा आत्मा के सम्बंध में थोड़ा मानसिक सम्वेदन चला, फिर उस पर जो गहरा चिन्तन चला, वह श्रुतज्ञान के प्रसाद से चला। श्रुतज्ञान के प्रसाद से चिन्तन चलते-चलते फिर दर्शन हुआ और उस दर्शनपूर्वक मतिज्ञान हुआ, जो अति निर्विकल्प स्थिति के सम्मुख आया, वहाँ यह मतिज्ञान का भी उपयोग छूटकर केवल ज्ञानचक्षु से ही जो निरखा जा रहा है प्रतिभासमात्र, वह स्थिति है स्वानुभूति में। स्वानुभूति के समय चूँकि निर्विकल्प स्वसम्वेदनरूप मतिज्ञान से वह स्थिति प्राप्त हुई है, इस कारण उसे मतिज्ञान में गर्भित कर ले तो कर ले, किन्तु वह तो एक अलौकिक स्थिति है। ऐसे उस स्वात्माभिमुख स्वसम्वेदनरूप निज निधि को मैं देखता हूं। ऐसे उत्कृष्ट पवित्र समाधिभाव की अभिलाषा रखने वाले संतजन प्रयत्न तो उस ही समाधिभाव के लिए करते हैं, किन्तु ऐसा प्रयत्न यदि अन्तर्मुहूर्त भी चले तो उन्हें केवलज्ञान हो जायेगा, पर जहाँ कषाय के उदय चल रहे हैं, वहाँ इसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त भी नहीं हो पाती। जब विकल्प आते हैं, उन विकल्पों के समय समाधिभाव का इच्छुक संत क्या भावना करता है, उसकी इस भावनावों को अब अब अगले छंद में कह रहे हैं-

श्लोक 2

शास्त्राभ्यासो जिनपतिनुति: संगति सर्वदार्यै: ।

सद् वृत्तानां गुणगणकथा दोषवादे च मौनम्।।

सर्वस्यापि प्रियहितवचो भावना चात्मतत्त्वे ।

संपद्यन्तां मम भवभवे यावदेतेऽपवर्ग: ।।2।।

समाधि के उपासक की सात भावनायें- हे देव ! जब तक मेरा अपवर्ग न हो जाए, मोक्ष न हो जाए, तब तक ये 7 बातें मुझे भव-भव में प्राप्त होती रहें। अपवर्ग कहते हैं वर्गरहित स्थिति को। वर्ग मायने क्या है? ये तीन- धर्म, अर्थ और काम। वर्ग का सम्बंध गृहस्थ से रहता है। इन तीन वर्गों से सम्पूर्णतयारहित जो स्थिति है वह है अपवर्ग। संसारक प्राणी धर्म, अर्थ, काम इन तीन वर्गों में अपनी-अपनी योग्यतानुसार अपने विकल्प ही बनाये रहते हैं। उन तीन वर्गों से जो अपगत हो गया हो, उसे कहते हैं मुक्त जीव। तो ऐसी मुक्त स्थिति जब तक मुझे प्राप्त न हो, तब तक मुझे भव-भव में ये 7 बातें प्राप्त होती रहें। साधक के उद्देश्य में अपवर्ग से बढ़कर और कुछ सम्पत्ति नहीं है। केवल खालिस शुद्ध आत्मा रह गया, कोई झगड़ा ही साथ नहीं, उपयोग ही कहीं नहीं लगता। केवल एक शुद्ध ज्ञान प्रतिभासमात्र का निरन्तर सम्वेदन किया जा रहा है और वहाँ बिना ही आकांक्षा के तीन लोक, तीन काल के समस्त पदार्थ ज्ञात हो रहे हैं- ऐसी स्थिति ही विवेकी संत पुरूष को आदरणीय होती है।

ज्ञान का सहज वृंहण और सहज आनन्द का शाश्वत लाभ- यह ज्ञान का स्वरूप है कि जब स्वच्छ ज्ञान हो तो अवश होकर समस्त त्रिलोक त्रिकालवर्ती पदार्थ ज्ञान में झलकें, वरना इसकी जरूरत कुछ नहीं। भगवान को जो आनन्द आया है, सहज अनन्त आनन्द जो उमड़ा है, वह समस्त पदार्थों के जानने के कारण नहीं, किन्तु अपने आपमें अपने को समा लेने के कारण जो निर्विकल्पता उत्पन्न हुई है, उसका आनन्द है और साथ ही वह आनन्द कभी बिखर न जाए, उस आनन्द में कभी कमी न आ जाए, इसके लिए नियन्त्रण है केवलज्ञान। जब तीन लोक, तीन काल के समस्त पदार्थ ज्ञान में आ रहे हैं तो इच्छा उत्पन्न होने की वहाँ गुंजाइश नहीं है। इच्छा तब हुआ करती है, जब कुछ तो जानने में आ रहा है और कुछ नहीं जानने में आ रहा है। जिसको त्रिलोक त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थ स्पष्ट ज्ञात हैं, अब उसके इच्छा की गुंजाइश नहीं। एक तो वैसे ही विकार रहित एक बार ही चुकने के बाद पुन: विकारक। कारण नहीं है, अतएव विकार नहीं आ सकते। फिर भी इस दृष्टि से देखें कि जब कुछ ज्ञान हो, कुछ न हो, ऐसी स्थिति इच्छा को उत्पन्न होने के लिए प्रेरणा दिया करती है। संसारी जीवों की इच्छा इसी बुनियाद पर बराबर चलती रहती है। यदि स्पष्ट असीम पूरा ज्ञान हो कि सब कुछ यह होने को है तो उसके इच्छा न

रहेगी। तो प्रभु ऐसे अनन्तज्ञान, अनन्त आनन्द से सम्पन्न हैं और सदा रहेंगे। ऐसी स्थिति जब प्राप्त हो जाती, तब किसी चीज की इच्छा हो ही नहीं सकती।

अपवर्ग प्राप्त होने तक संपूजनक की भव-भव में सात बातों की अभ्यर्थना- ये जो 7 बातें चाही जा रही हैं, जो भावना की जा रही है, वह सदा के लिए नहीं कहा जा रहा है कि हे प्रभो ! भव-भव में मुझे ये 7 बातें मिलती रहें। यद्यपि ये 7 बातें अच्छी कही जायेंगी, जैसे- शास्त्रस्वाध्याय, प्रभुभक्ति आदिक; लेकिन इन्हें भव-भव के लिए चाहने का अर्थ है भव का चाहना। वह चाह रहा है मानो संसार। मेरे खूब जन्म हों और प्रत्येक जन्म में प्रभुभक्ति मिले। तो जिसको भव की चाह है, उसको प्रभुभक्ति मिलना कठिन है। इसी कारण यह कहा गया है कि हे प्रभो ! जब तक मेरा अपवर्ग न हो, जब तक जितने भव शेष हों, उन सब भवों में मुझे ये सात बातें प्राप्त हों।

संपूजक की शास्त्राभ्यासभावना- अभ्यर्थनीय 7 तत्त्व क्या हैं? तो प्रथम कह रहे हैं शास्त्राभ्यास। शास्त्राभ्यास का कितना महत्त्व है, यह वहीं परख सकता है जिसने कुछ शास्त्राभ्यास किया है। शास्त्राभ्यास से रहित लोग इसके महत्त्व को नहीं जान सकते। अब तक बीसों-पचासों वर्ष मंदिर में आते रहे- ऐसे अनेक लोग मिलेंगे, जिनसे पूछा जाए कि सम्यक्त्व किसे कहते हैं? सम्यक्त्व के कितने अंग हैं? श्रावक के कितने व्रत हैं? इनका नाम तक भी न याद होगा। तो उन्होंने वह पद्धति तो अपनाई कि मंदिर में आना, जाना, पूजा करना, रहना; लेकिन ज्ञानमार्ग में, ज्ञानप्रकाश में कुछ भी कदम न बढ़ा सके और तब ऐसी स्थिति रहती है कि जैसे थे, तैसे ही हैं। जैसे- जैसे जिन्दगी गुजरती है, अवस्था बड़ी होती है तो परिग्रह, संग, समागम अधिक हो जाता है तो कहो पहिले से भी हीन स्थिति हो जाए धर्म के मार्ग में। और शास्त्राभ्यास का महत्त्व वे तो न समझ सकेंगे, किन्तु जिन्होंने थोड़ा भी विवेक किया है समझा है कि अहो ! प्रभु के शासन में वस्तु का कैसा विशुद्ध स्वरूप बताया है। प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने स्वरूपास्तित्त्व को लिए हुए है। स्वयं ही उत्पादव्यय ध्रौव्यात्मक है। सहज ही वह है और परिणमता रहता है। यही बात समस्त पदार्थों की है। ऐसा ज्ञान होने से फिर मोह नहीं रहता। जान लिया कि समस्त पदार्थ पूर्ण स्वतंत्र हैं। जब एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के साथ कर्तव्य, भोक्तृत्व, स्वामित्व कुछ भी नजर में नहीं आ रहा तो मोह वहाँ विराजे? और मोह ही इस जीव पर सबसे बड़ी विपदा है। वह विपदा जिस ज्ञान से मिटे, उस ज्ञान की महिमा का कौन वर्णन कर सकता है?

अहिंसाणुव्रत का उपदेश देने वाले शास्त्र का आभार- ज्ञान की तो महिमा है ही और अपने आपके स्वरूप में पहुंचने के लिए जो चारित्र की विधि बताई गई है- 5 अणुव्रत, 3 गुणव्रत, 4 शिक्षाव्रत। श्रावक के इन 12 व्रतों के माध्यम से जो पात्रता करायी गई है, वह भी एक अपने महत्त्व की बात है। गृहस्थधर्म में कितनी उत्तम विधि से शिक्षा की बात दी गई है- अरे ! हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन 5 पापों से दूर हो। पूर्णतया दूर नहीं हो सकते हो, सो एक देश दूर हो। देखो- त्रस जीवों के वध करने से तुम्हें

कौनसा लाभ मिलेगा? क्या त्रस जीवों के वध बिना खूब अच्छी प्रकार से जीवन नहीं चल सकता? हाँ, थोड़ा गृहस्थावस्था में इतनी विवशता अवश्य है कि आग जलाये बिना, पानी भरे बिना, मिट्टी लाये बिना, अनाज लाये बिना, साग-सब्जी लाये बिना, हवा चलाये बिना काम नहीं चल सकता, सो उपदेश किया है कि भाई, व्यर्थ स्थावर की हिंसा मत करो कितना सुन्दर अहिंसाणुव्रत पालन के लिए एक पथ पर चलने का दिग्दर्शन कराया है।

सत्याणुव्रत व अचौर्याणुव्रत का उपदेश देने वाले शास्त्र का आभार- भाई, वचन बोलो, बोले बिना गृहस्थी का काम चलेगा नहीं, लेकिन जो दूसरे का वध कर दें, दूसरे की निन्दा भरे हुए कठोर शब्द हों, दूसरे का हृदय मर्म छेद दें, ऐसे वचन मत बोलो। सत्याणुव्रत के सम्बंध में कितना सीधा उपदेश दिया है? इससे इसी समय शान्ति पावोगे और आत्मदर्शन की पात्रता भी रहेगी। किसी दूसरे की चीज बिना दी हुई ग्रहण किए बिना जीवन अच्छा गुजरेगा। चोर, डाकुवों का जीवन भला नहीं बनता। वे धर्म के पात्र नहीं, और शान्ति के पात्र नहीं और लौकिक सुख के भी पात्र नहीं, भयभीत रहें, शल्य बनी रहे। चोरी पाप है। कुछ भी बिना दी हुई चीज ग्रहण मत करो। हाँ, गृहस्थी में पानी और मिट्टी- ये दो चीजें ऐसी हैं कि बिना दिए हुए लाना ही पड़ता है। कहीं ये कुवें और तालाब थोड़े ही आपको जल दे जायेंगे अथवा खान से मिट्टी लानी ही पडेगी। कहीं खान आपको घर बैठे थोड़े ही मिट्टी दे जायेगी। तो ये जल और मिट्टी तो बिना दिए हुए ही ग्रहण करने पड़ेगे, पर जल और मिट्टी के बिना तो सब कुछ बिना दिए हुए ग्रहण न करें, इसमें तो खूब गृहस्थों का निभाव है। तो हम बिना दी हुई चीज ग्रहण न करें। अपने व्यापार आदिक से अर्जन करके आजीविका चलायें, यह उपदेश हमारी शान्ति के लिए समर्थ है।

ब्रह्मचर्याणुव्रत व परिग्रहपरिमाणुव्रत का उपदेश देने वाले शास्त्र का आभार- अपनी स्त्री के अलावा अन्य पर स्त्री, वेश्या आदिक पर अपनी दृष्टि मत डालो। गृहस्थों का कितना सुगम मार्ग बताया गया है और इसी कारण विवाह को भी गृहस्थधर्म में किसी अंश में धर्म की बात कही गई है। विवाह में जो परदारनिवृत्ति का लक्ष्य है, वह धर्म है। और इस गृहस्थधर्म में श्रावक का सारा जीवन बहुत भले प्रकार निभ सकता है। यों तुम ब्रह्मचर्याणुव्रत पालो। परिग्रह का परिमाण कर लो। परिग्रह तो पिशाच है। जितना परिग्रह संचित करोगे, उतनी ही उलझनें बढ़ती जायेंगी। इस दुनिया में रह रहे हैं, मोही लोगों में रह रहे हैं, उनकी बातें तक रहे, सो कुछ अपने आपसे चिगना हो जाता है और उस ममता के जाल में फँसना बन जाता है। जो आरम्भ में परिग्रह बढ़ता है, यह परिग्रह जिसका जितना बड़ा है, वह उतना दु:खी होता है। कारण यह है कि लाखों रूपये आ रहे हैं, उनका सुख नहीं भोग पाता, क्योंकि उससे आगे की और सम्पदा की तृष्णा लग रही है। तो जब निरन्तर तृष्णा का भाव बना हुआ है और उससे अधिक पर तृष्णा लग गयी है तो वर्तमान में पाये हुए लाखों के वैभव से भी आनन्द नहीं पा सकता, एक बात तो यह है और दूसरी बात यह है कि पायी हुई चीज में एक हजार भी कहीं घट जायें या गिर जायें तो उसकी उसे

बड़ी वेदना माननी पड़ती है। कभी एक हजार का ही सारा ठाठा था और अब हो गया एक लाख का ठाठ, तो अब हजार नष्ट होने पर 99 हजार तो अभी पडे हैं पर उसके घटने का दु:ख उसके उपयोग पर लदा हुआ है और यह होता है। जब सम्पदा बढ़ रही है तो अनेक जगह लुटना, भूल होना, गुम जाना आदि बातें होगी ही। तो जितनी वृद्धि होती है परिग्रह की उतनी ही आकुलता है। यदि मुक्ति की अभिलाषा है तो अपना प्रोग्राम बदल दो और परिग्रह का परिमाण रख लो। कैसा हितकारी सुखप्रद उपदेश है, ये सब बातें जब विदित होती हैं तो शास्त्र के प्रति भक्ति उमड़ती है। कितना हितकारी शिक्षण शास्त्र से प्राप्त हुआ? तो यह समाधिभक्त पुरूष शास्त्राभ्यास की भावना कर रहा है कि जब तक मेरा अपवर्ग न हो तब तक भव-भव में मेरा शास्त्राभ्यास रहो।

शास्त्र में उपकारक दिग्व्रत का उपदेश- रागद्वेष पर विजय करने वाले वीतराग जिनेन्द्रदेव के शासन में जो चारित्र की विधि बतायी गई है वह विकार रहित ज्ञानानन्दमात्र निजस्वरूप में लीन हो सकें, इस ध्येय को लेकर बतायी गयी है। इसी सिलसिले में जो पुरूष सर्वपापों का परित्याग करके सकलव्रती मुनि नहीं हो सका है ऐसे पुरूष को श्रावक के बारह व्रतों का उपदेश किया है। 5 अणुव्रत तो मुख्य हैं श्रावक के और 5 व्रतों की रक्षा के लिए 7 शील बताये गए हैं- जिसमें तीन गुणव्रत हैं- दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत और चार शिक्षाव्रत हैं- सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाण और अतिथिसम्विभाग। दिग्व्रत में यह विधि बतायी गई है कि आजीवन दसों दिशाओं में आने जाने व्यापार करने का परिमाण करले और फिर उससे बाहर आने जाने व्यापार आदिक से सम्बंध न रखे। इस व्रत से बाह्य के विकल्प हट जाते हैं और यों भी कह लीजिए कि दिग्व्रत की सीमा के बाहर के क्षेत्रों के लिए तो उसका सकल व्रत है, मुनि की तरह व्रत है क्योंकि बाहर में सबका त्याग कर दिया है। जितना कम आरम्भ हो, कम परिग्रह हो, भावों में ममता कम हो उस जीव के उतना ही आत्मा में लगने की पात्रता आती है। तो सर्वोत्कृष्ट पुरूषार्थ है ज्ञानमय आत्मा में इस ज्ञान का लीन हो जाना और उसके लिए यह एक दिग्व्रत का उपाय बताया गया है। तो यह कितना उपकारी उनका सन्देश है। ऐसे उपकारक तत्त्व का जिसमें वर्णन है उस शास्त्र के अभ्यास करने का महत्त्व शास्त्रकथित तत्त्व के मर्म जाने वाले ही समझते हैं।

शास्त्र में उपकारक देशव्रत का उपदेश- दिग्व्रत के अन्दर भी और संक्षेप करके कि यह मन यत्र तत्र न डोले और भी कम में आरम्भ परिग्रह रहे उसके लिए देशव्रत बताया गया है। यह देशव्रत कुछ काल की मर्यादा लेकर किया जाता है। जैसे- एक माह तक इस शहर से बाहर में अपना सम्बन्ध न रखूँगा तब फिर बाहर का व्यापार अथवा आना जाना छोड़ दें। कुछ काल की मर्यादा लेकर इस तरह का नियम ले लेना इसका नाम है देशव्रत। तो देशव्रत में और भी अभ्यास होता है बाह्यपदार्थों की दृष्टि हटाने में। थोड़े से देश में ही अपना सम्बंध रखा। यद्यपि साक्षात् घात तो अब भी है कि जितनी सीमा में सम्बंध रखा है उसमें उपयोग लग रहा है लेकिन अब ज्यादा विकल्प नहीं चल रहे, भारी उलझनों में अब चित्त नहीं रहा,

इस कारण उसमें ऐसी पात्रता रहती है कि आत्मा के स्वरूप में लीन हो सके तो उसमें सुगमता रहती है। इसमें भी अहिंसा व्रत की सिद्धि की गई है। समाधिभाव कहो अथवा अहिंसा भाव कहो- दोनों का एक तात्पर्य है। रागद्वेष न होकर केवल समतापरिणाम रहना, उसे कहते हैं समाधिभाव। रागद्वेष से इस आत्मा की हिंसा हो रही थी। तो रागद्वेष का भाव न करके आत्मस्वरूप के ध्यान के बल से अपने आपकी हिंसा बचा लेना, अपनी सुरक्षा कर लेना यह है अहिंसा। तो इस समाधि की सिद्धि का लक्ष्य इस देशव्रत में है।

शास्त्र में उपकारक अनर्थदण्डव्रत का उपदेश- तीसरा गुणव्रत है अनर्थदण्डव्रत। इस साधक को कैसा क्रम से और विधिपूर्वक सन्मार्ग में लगाया है? यहाँ बता रहे हैं कि जिन कामों में बिना प्रयोजन ही पाप होता हो उन पाप के कामों को छोड़ देना अनर्थदण्डव्रत है। जैसे- व्यर्थ ही पाप भरा उपदेश देना, हिंसा की चीजों का वितरण करना। खोटी रागभरी कथाओं का सुनना। चलते हुए फल फूल पत्तियों को यों ही तोड़ते जाना। दूसरे का बुरा विचारना आदि ये सब अनर्थदण्ड हैं। अनर्थदण्ड के विकल्पों में जो मनुष्य रहेगा उसको आत्मध्यान की पात्रता न जगेगी, इसलिए अनर्थदण्डों का परित्याग करना ही चाहिये। ऐसा उपदेश देकर जिन शास्त्रों ने कुमार्ग से बचाया, सन्मार्ग में लगाया और आत्मध्यान का पात्र बनाये रखा, तो इस प्रकार का जो उपकारक शास्त्र है उसका अभ्यास करना, हम आप सब लोगों के लिए एक आवश्यक चीज है, इसी कारण समाधिभक्ति पुरूष जब समाधि में लीन नहीं है तो उस वक्त के लिए वह क्या चाह रहा है? उन 7 प्रकार की भावनाओं में यह प्रथम शास्त्राभ्यास की भावना चल रही है।

शास्त्र से उपकारक सामायिक शिक्षाव्रत का उपदेश- शिक्षाव्रत में प्रथम शिक्षाव्रत सामायिक बताया है। समतापरिणाम करने को सामायिक कहते हैं। ऐसी समता, ऐसी सामायिक साधुजनों के निरन्तर रहती है, क्योंकि वे सर्व आरम्भ परिग्रहों से निवृत्त हैं और उनकी धुन में एक ही बात है। इस आत्मस्वरूप को लक्ष्य में लिए रहो और अपने में अपने आपको रखकर सर्वसंकटों से दूर हो। जो जैसी बात है, उसे वैसी जानते रहो। चाहना कुछ नहीं- न सुख, न शान्ति, न मोक्ष, न कुछ; किन्तु एक शुद्धता ऐसी प्रकट हुई है कि गलत बात को नहीं समझना चाहते गलत बात में विश्वास नहीं करना चाहते और गलत यत्न नहीं करना चाहते। जैसा जो कुछ है, उसको वैसा ही निरखते रहना- ऐसी वृत्ति सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरूष को होती है। तो साधु-संतों के तो समता अथवा सामायिक निरन्तर रहती है। श्रावकजनों के समता, सामायिक निरन्तर रह सकने का अवकाश नहीं है, क्योंकि उसके साथ आरम्भ और परिग्रह लगा हुआ है। तब सुबह, दोपहर, शाम दो घड़ी अथवा चार घड़ी सर्व ओर के आरम्भ परिग्रह से हटकर केवल एक समतापरिणाम के लिए उपयोग लगाना, भावना भाना, इष्ट वंदन करना, प्रभुस्तवन करना, आलोचना करना, आत्मस्वरूप निरखना, आत्मध्यान करना- इन्हें प्रयत्न करना बताया गया है। तो इनमें इस श्रावक का अभ्यास बनेगा और 6-6 घण्टे बाद इसको अपने आपकी सुध लेने का अवकाश मिलेगा। तो ऐसी सुगम चिकित्सा से जहाँ श्रावकों के भले के लिये उपदेश किया है, ऐसे शास्त्रों का अभ्यास करना हितकारी है।

शास्त्र में उपकारक प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत का उपदेश- सामायिक करना मुख्य काम है। समतापरिणाम से रहना, इसमें ही जीवन की सफलता है। तो इस समता को बढ़ाने के लिए प्रोषधोपवास का दूसरा शिक्षाव्रत कहा है। अष्टमी, चतुर्दशी आदिक के बिना उपवास आदिक करके व्यापार परिग्रह आदिक से हटकर मंदिर में, धर्म-सत्संग में रहकर धर्म में समय व्यतीत करना, सो प्रोषधोपवास है। सामायिक में तो दिन में दो-तीन बार घण्टा-घण्टा भर ही समय लगता था। अब प्रोषधोपवास में उतने नियत समय में सामायिक तो करता ही है, लेकिन शेष समय में समतापरिणाम बनाये रखने का अभ्यास कर रहा है। व्रतपालन का उद्देश्य जिसे विदित नहीं है, वह व्रतपालन का उद्देश्य नहीं पा सकता। व्रतपालन का उद्देश्य है कि हमारा सारा दिन समतापरिणाम में गुजरे। तो ऐसा उद्देश्य समझने वाला इस ओर यत्न करेगा, अपने आपमें उस प्रकार से समताभाव रखने का यत्न करेगा, जैसा कि मुनिजन किया करते हैं। इसीलिए इसका नाम शिक्षाव्रत है। जिन व्रतों के पालने से मनुष्यों को शिक्षा मिले, उसे शिक्षाव्रत कहते हैं।

शास्त्र में उपकारक भोगोपभोगपरिमाणव्रत का उपदेश- तीसरा शिक्षाव्रत कहा है भोगोपभोगपरिमाणव्रत। जो वस्तु एक बार भोगने में आयी, उसे भोग कहते हैं, जैसे भोजन, तैल और स्नान किया हुआ जल आदि। ये एक बार काम में आने के बाद फिर दुबारा काम में नहीं लिए जाते। तो ये हैं भोग और जो चीजें बार बार भोगने में आयें, वे हैं उपभोग, जैसे कपड़े, बिस्तर, पलंग आदि। तो भोग और उपभोग के साधन बहुत अधिक न हों, कम से कम हों, उनका परिमाण कर लो और शेष भोगोपभोग के साधनों का महत्त्व छोड़ दो तो उसे भोगोपभोगपरिमाण कहते हैं। जिन श्रावकों की दृष्टि मुनियों की ओर रहती है और वे चिन्तन करते हैं कि मुनिजन तो हमारे पूज्य, हमसे बड़े होते हैं, वे निर्ग्रंथ होते हैं, मात्र पिछी, कमण्डल या एक-दो पुस्तकें उपकरण के रूप में अपने पास रखते हैं। इनके अतिरिक्त वे अन्य समस्त चीजों से अपना सम्बंध नहीं रखते। और वे बड़े प्रसन्न और तृप्त रहा करते हैं। ऐसा ही हमको भी होना पड़ेगा, यदि संसार के संकटों से छूटना है तो- ऐसा ध्यान रहता है। तो उसका इस बात में उत्साह रहता है कि भोगोपभोग की चीजें जितनी कम से कम रखूँ, उतना ही अपने को लाभ है। बहुत रखा तो क्या? मरण तो होगा ही। और बहुत भोगोपभोग के साधनों का आश्रय बनाया तो उसमें विकल्प और बढ़ाया। तो भोग और उपभोग का परिमाण करना, एक ज्ञानमय आत्मस्वरूप में लीनता हो, इसकी पात्रता बनाये रखने के लिए बताया है।

शास्त्र में स्वपरोपकारक अतिथिसंविभागव्रत का उपदेश- अंतिम शिक्षाव्रत है अतिथिसंविभागव्रत। जिस श्रावक को अतिथि में, मुनि में भक्ति नहीं है, वह श्रावक अपने आपके कल्याणपथ में बढ़ नहीं सकता; लेकिन साथ ही यह भी है कि जिसमें साधुपने की योग्यता नहीं है, केवल एक अपने भोगोपभोग का साधन बनाने के लिए एक भेषमात्र रखा है, उनका सम्पर्क रखने और भक्ति रखने से यह सत्पथ में तो क्या, इसकी दृष्टि भी शुद्ध न हो सकेगी। पर जो मुनि हैं, आरम्भपरिग्रह से विरक्त हैं, विषयों की आशा से

रहित हैं, ज्ञानध्यान तपश्चरण में लीन रहा करते हैं, निर्ग्रंथ हैं, पिछी-कमण्डल और एक-दो पुस्तकों के अतिरिक्त उनके पास और कुछ भी चीज नहीं है, जो केवल आत्मा की धुन में ही रहा करते- ऐसे मुनियों की भक्ति चित्त में हो तो वे श्रावक अपने आपके इस समाधिभाव के लिए उत्साहित रहा करते हैं। ऐसे अतिथियों को आहारदान, औषधिदान, शास्त्रदान, अभयदान आदि देते हुए उनकी सेवा करना, यह अतिथिसंविभागव्रत में बताया गया है।

मोक्षमार्ग में रूचि होने पर ही मोक्षमार्गियों में रूचि का भाव- जिसको जिस पथ में रूचि होती है, उस पथ में जो अग्रसर हैं, उनमें उनकी रूचि होती है। यह एक प्राकृतिक बात है। तो ऐसे अतिथिजनों का कुछ संविभाग न करे तो इसकी प्रेरणा नहीं मिलती। और जो अतिथि संविभाग का नियम लेकर याने व्रत प्रतिमा धारण करके अतिथि संविभाग को जीवन भर नहीं चाहता, जैसे कि किसी दानशाला में भोजन करने लगे। एक आश्रम का रूप बना दिया लोगों को धोखा देने के लिए कि हम लोग त्यागी हैं, हमको लोग खिलायेंगे तो उन्हें पुण्यबन्ध होगा। सो आश्रम की दानशाला में ही नौकरों से बनवाकर खायें तो अब बतावो कि ऐसे व्रती लोग अतिथि को कब खिला सकते हैं? उनका भाव ही खिलाने का नहीं हो सकता है। जो मौज से दानशाला में खाने में लगे हुए हैं, उनको अतिथि संविभाग का परिणाम ही नहीं हो सकता। अव्रती श्रावकों के लिए आश्रम का रूप था, सो उसकी अब क्या विडम्बना हो गई?

अतिथिसंविभाग और अहिंसाणुव्रत की श्रावकव्रतों में प्रधानता- अतिथिसंविभाग और अहिंसाणुव्रत- ये दो व्रत बड़े प्रधान हैं। बारह व्रतों में प्रथम व्रत और बारहवां व्रत- ये दो ऐसे प्रधान है कि जिनके बिना धर्म की प्रवृत्ति नहीं बन सकती है। अहिंसाव्रत न हो तो धर्म ही क्या रहा? और अतिथिसंविभाग न हो तो तीर्थप्रवृत्ति कैसे चल सकेगी? तो अतिथिसंविभाग स्व और पर के उपकार के लिए है। यों जैनशासन में उपदेश किया गया है तो इन 12 व्रतों के धारण करने से श्रावक अपना जीवन सफल करता है और मरण करके स्वर्ग में उत्पन्न होगा। वहाँ से चलकर मनुष्य जन्म पाकर साक्षात् मोक्ष का मार्ग प्राप्त करके निर्वाण को भी प्राप्त कर सकेगा। ऐसे सर्वसंकटों से छुटकारा पाने का उपाय जहां वर्णित किया गया है- ऐसे शास्त्रों के स्वाध्याय में प्रमाद करना और अपने ऐसे अमूल्य जीवन को यों व्यर्थ ही खो देना, यह एक बड़े खेद की बात होगी। भगवान महावीर की स्तुति में कहते हैं कि हे प्रभो ! यदि आपकी दिव्यध्वनि न खिरती और उस परम्परा से शास्त्र न होते तो आज पदार्थों का स्वरूप लोगों को सही-सही कैसे विदित होता? और वे अपने आपके स्वरूप में लीन होने का उपाय कैसे बना सकते थे? इस कारण आपकी वह वाणी परम उपकारी है।

शास्त्र में उपकारक साक्षान्मोक्षमार्ग का उपदेश- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र- यह रत्नत्रय धर्म ही जीव का उद्धार कर सकने वाला है। मुनिजन साक्षात् रत्नत्रय की मूर्ति हैं, पापों का, सर्वदोषों का जिन्होंने त्याग किया है। अहिंसा की तो वे यों साक्षात् मूर्ति हैं कि चित्त में किसी भी जीव का

अनिष्ट नहीं सोचते। किसी भी जीव से अपने लिए कुछ नहीं चाहते। आरम्भ से तो पूर्ण विरक्त हो ही गए हैं, किसी भी समय कुछ भी आरम्भ का चिन्तन वे नहीं करते। इसी प्रकार वे सत्य, अचोर्य व ब्रह्मचर्य की परममूर्ति हैं। ब्रह्मचर्य की परम सिद्धि उनके नग्नत्व से स्पष्ट प्रकट है और वे कभी स्त्री सहवास में नहीं रहते, ग्रामसहवास भी जिन्हें पसन्द नहीं है- ऐसे ब्रह्मचर्य की साक्षात् मूर्ति और निर्ग्रंथता की परमपवित्र मूर्ति, जिनकी नग्नमुद्रा को निरख करके सबको विश्वास होता है कि इनके द्वारा किसी को कोई कष्ट नहीं होने का, कोई धोखा नहीं होने का। उनके पास कुछ भी परिग्रह नहीं है, उनकी नग्न मुद्रा है। उस नग्न मुद्रा को ही देखकर लोग यह विश्वास करते हैं कि इनके द्वारा किसी को कोई बाधा नहीं पहुंच सकती। साथ ही यह भी देखिये कि आत्मा का ध्यान करने में सर्वाधिक बाधक है परिग्रह। जब केवल आत्मा में ही रमने का संकल्प किया है तो अब आत्मा के सिवाय अन्य से प्रयोजन क्या रहा? आत्मा और प्रभु जिनके लिए दो ही देवता दृष्टि में रहते हैं, ऐसे साक्षात् मार्ग पर चलने की बात जैनशासन में कही गई है। वे शास्त्र हम आपके कितने उपकारी हैं, कितने मूल से हम लोगों के उद्धार की बात कही है? सम्यक्त्व प्राप्त करो। अपने निर्विकार ज्ञानमात्र आत्मस्वरूप का विश्वास करो, इसका ही उपयोग लगाए रहो, इसमें ही रमण किया करो। ऐसे रत्नत्रय का उपदेश जहां हमें विधिपूर्वक प्राप्त होता है, उस शास्त्र के अभ्यास की मेरी निरन्तर भावना रहे।

समाधिभक्त की जिनपतिनुति की भावना- समाधिभक्त पुरूष जब समाधि में तल्लीन नहीं हो रहा है, लेकिन समाधि में ही रहने की जिसकी उत्सुकता रहती है, वह चिन्तन कर रहा है कि जब तक मेरा मोक्ष न प्रकट हो, तब तक ये 7 भावनायें भव-भव में चलती रहें। उनमें से द्वितीय भावना है जिनेन्द्रदेव का स्तवन। उपयोग में हम किसको बसायें कि उपयोग मेरा शान्त, निर्मल, पवित्र, कृतार्थ हो जाए? हम उपयोग में कुछ न कुछ बसाते रहते हैं, इतना ही तो किया करते हैं। बाह्यपदार्थों में तो कुछ नहीं कर सकते, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ परिपूर्ण स्वतन्त्र है। अपने आपमें अपना परिणमन करें और रहें, इतनी ही बात पदार्थ में पायी जाती है। मैं अपने प्रदेश से बाहर किसी की भी अन्य पदार्थ में कुछ कर डालूँ, यह बात नहीं बन सकती। यद्यपि प्रसंग नाना हैं। जैसे कि इसी समय देखिए कि हम शास्त्र पढ़ रहे हैं, आप सुन रहे हैं और इस व्यवहार में ऐसा लग रहा है कि हम कुछ विशेष श्रम कर रहे हैं, आपको कुछ दे रहे हैं और आप लोग कुछ सुन रहे हैं, ग्रहण कर रहे हैं तो ऐसा देने लेने जैसा व्यवहार लोगों को जँच रहा होगा, लेकिन स्वरूपदृष्टि करके निरखें तो यहां लेने देने का कोई व्यवहार नहीं बनता।

ज्ञानी के ज्ञान में सर्वत्र तत्त्वप्रकाश- बोलने की यह सब निमित्तनैमित्तिक भाव से वचनों की चेष्टा हो रही है। मैं आत्मा जो अमूर्त भावमात्र हूं, अन्त: कोई भाव ही बना रहा हूं और इस स्थिति में चूँकि वे भाव कुछ राग को लिए हुए हैं तो प्रदेशों में खलबली मच गई। अब जिस प्रकार का हमारा ज्ञान हुआ, भाव हुआ, इच्छा हुई, उस प्रकार से हमारे प्रदेशों में हलन-चलन हुआ और जिस विधि में हलन-चलन हुआ,

उसके ही अनुसार एकक्षेत्रावगाह में रहने वाले इस शरीर की वायु चली और उसका निमित्त पाकर ये ओंठ दबे, जिव्हा, कण्ठ आदिक चले और जिस तरह ये चले और उनमें से जिस ढंग का जो शब्द बनाना चाहिये, वैसा ही शब्द निकलता है। जैसे हारमोनियम में जिस पर्दे को दबाया, वैसी आवाज निकलती है, इसी प्रकार यहां जिस प्रकार का प्रयत्न हुआ, उस प्रकार की ही ध्वनि निकलती है। जैसे ओंठ से ओंठ मिलाकर जो उच्चारण किया तो शब्द निकला प। उस प के साथ कुछ महाप्राण और श्वास का विशेष सम्बंध कर दिया तो निकला क। अब उस ही प के साथ महाप्राण के सम्बंध बिना और कुछ कोमल प्रेरणा से निकला ब। उसी के साथ कुछ प्रेरणा करने से निकलता है य और नासिका की मुख्यता करके निकला म। तो जैसा दबाव दिया, जैसे साधन का संयोग किया, वियोग किया, उसके जरा-जरा से तीव्र चढ़ाव उतार आदिक के कारण यह सब शब्द रचना बन जाती है। इनको यह मैं ज्ञानमात्र अमूर्त भावमात्र आत्मा रचता हूं क्या? वह तो केवल भावभर बनाता है, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं कर पाता।

परसम्पर्क में मोह का व्यर्थ भ्रम- यह सब भ्रम है कि मैं अमुक को यों पालता हूं, यों पोषता हूं, अमुक से स्नेह करता हूं, वह मुझसे बहुत स्नेह रखता है, इससे मुझे सुख मिलता है, मुझसे इसे सुख मिलता है, इस प्रकार की जो परबुद्धिकृत बातें हैं, वे सब भ्रम की बातें हैं। हम भावों के सिवाय और कुछ नहीं किया करते। तो जब हम भावमात्र के ही करने वाले हैं तो अब यहां यह छांट कर लें कि हम अपने उपयोग में कैसे भाव रचा करें कि हमको शान्ति प्राप्त हो और संसार के संकटों से हमें छुटकारा मिल जाए? वह भाव क्या हो सकता है? ऐसा पवित्र भाव जिनेन्द्र भगवान का स्तवन हो सकता है। पर की ओर दृष्टि रखकर पवित्र से पवित्र भाव बनाने की अगर कोई स्थिति है तो वह जिनेन्द्र भगवान का स्तवन है। वहां आत्मा का चिन्तन हो कि ऐसा रागद्वेषरहित सर्वज्ञता से परिपूर्ण स्वच्छ विकारों का जहां नाम नहीं, सहज आत्मा के सत्त्व के कारण जो कुछ भाव है, वही भाव जिसके प्रकट हुआ है- ऐसा ज्ञानमात्र आनन्दधाम जो एक अंतस्तत्त्व है, शुद्ध तत्त्व है, वह है प्रभु। वह आत्मा की एक परम विकसित अवस्था है, वहां ही आत्मा का परमकल्याण है, अन्यत्र आत्मा का कल्याण नहीं है, ऐसा ही हो जाने की मुझमें शक्ति है, पर उमंग नहीं करते, उत्साह नहीं करते, दृढ़ संकल्प नहीं करते, अपने में प्रेरणा नहीं लाते, भावना नहीं लाते, तो संसार में पडे हुए हैं।

सुगम स्वाधीन समाधिभाव के प्रेमी की जिनपतिनुति की भावना- भैया ! संसार में रहकर जन्ममरण करके, विकल्पों में बसकर हम अपने आपमें कुछ लाभ न पा सकेंगे। लेकिन इस मोही जीव को जो बात स्वाधीन है वह तो लग रही है कठिन और जो बात पराधीन है वह लग रही है इसे सरल। जब भाव के भाव में ही सारा निर्णय है तो कैसा मोहनी धूल पड़ी है, कैसा मोहनी कर्म का उदय है कि जो बात सुगम स्वाधीन है ज्ञानमय यह आत्मा इसका ही यह ज्ञान ,यह ज्ञान यहीं का यहीं ज्ञानमय आत्मा में लीन हो जाय इसमें कोई कठिनाई की बात नहीं है। लेकिन भावों में जब ऐसी मलिनता है कि यह काम न किया

जा सकेगा तो बाहरी बातें इसे बड़ी सुगम लग रही हैं। ये सब अडचनें दूर करने का सीधा सुगम कोई यत्न है तो जिनेन्द्र भगवान का स्तवन है। तो यहां समाधिभाव की उपासना करने वाला पूजक द्वितीय भावना में चाह रहा है कि हे प्रभो ! जब तक मुझे अपवर्ग प्राप्त न हो तब तक भव-भव में यह जिनेन्द्र भगवान का स्तवन प्राप्त होता रहे।

समाधिभक्त की समाधिमूर्ति के स्तवन में भावना- संसार शरीर, भोगों को असार जानकर इनमें जिनकी पूर्णतया उपेक्षा हुई है और अपने सहज सत्य ज्ञानमात्र स्वरूप को जानकर उसकी ही निरन्तर प्रतीति रहा करती है। ऐसे पुरूष को समाधिभाव में ही रूचि होती है। समाधिभाव के अतिरिक्त अन्य जितने भी विकल्प हैं उन विकल्पों को विपदा मानता है। यह समाधिभाव की रूचि रखने वाला संत जब समाधिभाव में नहीं रह पा रहा है, प्रतीति तो उसकी अवश्य है तो वह इन 7 भावनाओं में रह रहा है। दूसरी भावना चल रही है कि जिनेन्द्र भगवान के गुणों का स्मरण और उनके प्रति नमन करना। परमार्थत: तो आत्मा का आत्मा ही रक्षक है, किन्तु जब आत्मा के सिवाय अन्य जगह निरखने चलते हैं कि है कोई ऐसा पुरूष जिसकी शरण गहें जिससे अपने आपको शान्ति लाभ हो, संसार के संकट मिटें? तो वह शरण मिलेगा यह जिनेन्द्र चरण, भगवत् स्वरूप। उपयोग में जब शुद्ध ज्ञानानन्दमात्र प्रभु बसता है तो उस उपयोग में आकुलता और क्षोभ नहीं रहता। उसका कारण यह है कि उपयोग जिसकी शरण ले रहा है वह आत्मा स्वरूपत: सदृश है। दूसरी बात यह है कि वह अपने स्वरूप में स्वयं स्थिर है, पवित्र है, तो पवित्र स्वरूप की भावना करने से आत्मा में अपवित्रता नहीं आती। अपवित्रता आने से ही क्षोभ और आकुलता होती है। जिनेन्द्र चरण का स्तवन हम आपके लिए जीवन में इतना उपयोगी है कि जिसके बिना हमारा ज्ञान और चारित्र भी विशुद्ध नहीं हो सकता। अविकारी ज्ञानस्वरूप प्रभु का यदि स्मरण रहेगा तो विकारों से निवृत्ति सुगमतया हो सकती है। जब हम मोही रागी स्नेही परिजनों का संग रखते हैं तो वहां विकारों का आना शुरू होता है। तो जिनेन्द्र भगवान का स्तवन हे प्रभो ! मेरा भव भव में बर्तो जब तक कि अपवर्गों की प्राप्ति न हो।

समाधिभक्त की सत्संगभावना- तीसरी भावना है कि मेरी सर्वदा सज्जन पुरूषों के साथ संगति रहे, कुसंग से, मिथ्यादृष्टि मोहियों के संग से बहुत बल लगाने पर भी फिसलना हो सकता है और सन्मार्ग से च्युत होकर कुमार्ग में प्रवृत्ति हो सकती है। संसार है जन्ममरण का नाम। जन्म मरण साक्षात् दु:ख है। जैसे किसी बांस के बीच किसी पोर में कोई कीड़ा बैठा हो और उस बाँस के दोनों ओर (ओर छोर में) आग लगी हो इसी तरह हम आप भी इस संसार के बीच पडे हुए हैं और इस जीवन के दोनों ओर (ओर छोर में) जन्म मरण की आग लगी हुई है। जन्म भी दु:ख की चीज है और मरण भी दु:ख की चीज है। बालक उत्पन्न होता है, गर्भ से निकलता है। परिवार के लोग तो खुशियाँ मनाते हैं पर उस बच्चे की उस समय क्या हालत होती है, उसका अनुभव कोई दूसरा नहीं कर सकता। वह महा दु:ख है। ''निकसत जे

दु:ख पाये घोर। जिनको रहत न आये ओर।।'' कितना कठिन दु:ख जन्म के समय होता है। वैसे भी अंदाज कर लीजिए कि कोई जीव एक शरीर छोड़कर आया, अब शरीर तो उसके पास स्थूल नहीं है। केवल तैजस कार्माण शरीर ही है। अब वह नये शरीर को ग्रहण करेगा और शरीर में एक क्षेत्रावगाह होकर बनेगा। इस तरह की बात होने में इस जीव पर कितना दबाव पड़ता है? जन्म के समय भी इस जीव को घोर दु:ख है और मरण के समय भी इस जीव को घोर दु:ख है। इसका तो सभी को पता है। लोग दूसरों का मरण होते देखते हैं। कितने प्रकार के रोग हो गए? श्वास बुरी तरह चल रही उल्टी सीधी, बोला नहीं जाता, बैठा नहीं जाता और मरण समय में दिखता है कि जैसे स्वर्णकार तार को खींचता है लम्बा करने के लिए इस तरह से आत्मा वहाँ से खिंचता सा है, निकलने के लिए जाता है तो उसे कितनी वेदना होती है? तो जीव को कितनी जन्म मरण की वेदना लगी हुई है ओर छोर में और यह बीच का जीवन है उस कीड़े के जीवन की भांति जो कि जलते हुए बांस के बीच के किसी पोल में बैठा हुआ हो और बांस के ओर छोर में आग लगी हुई हो। हम आपको सुख शान्ति है कहाँ? ऐसे जन्म मरण से भरे संसार में परम्परा बढ़ाने के लिए हैं रागद्वेष मोह भाव। उन रागद्वेष मोह भावों का बल मिले, प्रेरणा मिले ऐसा संग है मोहियों का, अज्ञानियों का, व्यसनियों का। उस संग में रहकर इस जीव को तत्काल तो कुछ मौज सा मिलता है क्योंकि स्वच्छन्दता की प्रकृति पड़ी हुई है, लेकिन इसका फल इतना कटुक है कि संसार में जन्म मरण के चक्र लगाते रहना पड़ता है। तो खोटा संग इस आत्मा के अहित के लिए है और सत्संग आत्मा के हित के लिए है।

क्षणमात्र भी सत्संग से उद्धार की संभावना- एक क्षण को भी सत्संग मिले तो जिसमें पात्रता है वह उसी क्षण में सुधर जाता है। पद्म पुराण की कथा में आया है कि उदयसुन्दर का बहनोई बज्रबाहु अपनी स्त्री में आसक्त था, अपनी बहिन को उदयसुन्दर लेने आया तो वह स्त्री सहित खुद चला, पर रास्ते में वन में एक शान्त समाधिप्रेमी मुनि की शान्त मुद्रा के दर्शन किए तो तत्काल उसे अपनी गल्ती नजर आयी, ओह ! यह मैं मोही निरन्तर व्याकुल चित्त रहता हूं और यह भी जीव हैं, यह महापुरूष हैं, कितना शान्त हैं, कितना तृप्त हैं। ज्ञानप्रकाश बढ़ता गया। एक क्षण का सत्संग हुआ उसका तो उद्धार हो गया। मोह छूटा और स्वयं निर्ग्रंथ साधु होकर उस ही शान्त रस का स्वाद लेने लगा। एक क्षण का भी सत्संग हो वह भी लाभ के लिए होता है। जब एक मुनिराज चातुर्मास में थे, उस नगर के सेठ ने भी कुपूत के डर से रत्न हीरा जवाहरात सब कुछ एक हंडे में भरकर जंगल में एक पेड़ के नीचे जहां मुनिराज का चातुर्मास हो रहा था गाड़कर रहने लगा यह सोचकर कि चातुर्मास भर आरम्भपरिग्रह के कार्यों से दूर रह कर धर्मध्यान में समय व्यतीत करेंगे। मुनिराज तो चार्तुमास समाप्त होने पर विहार कर गए, उधर उस कुपूत लड़के ने क्या किया था कि मौका पाकर उस हंडे को निकाल ले गया। सेठ को धोखा हुआ कि मैंने तो मुनिराज की चार माह तक सेवा की और देखो मुनिराज ने हमारा हंडा गायब कर दिया। तो सेठ पहुंचा मुनिराज के

पास और वहां ऐसी-ऐसी कथायें सुनाने लगा व्यंग के साथ कि जिनसे यह साफ जाहिर होता था कि हमने तो आपकी चार माह तक सेवा की और आपने हमारा सारा वैभव चुरा लिया। और मुनिराज ने इस तरह की कथा कही कि जिसका यह निष्कर्ष था कि अपराध करने वाला तो कोई दूसरा ही है और इसका व्यर्थ ही मुझ पर भ्रम हो रहा है। उन कथाओं को वह कुपूत बालक भी सुन रहा था (क्षणमात्र में सत्संग के प्रभाव की यह बात कही जा रही है) तो उस दृश्य को देखकर उस कुपूत लड़के का चित्त विरक्त हुआ और बोला- ''हे पिताजी ! आपने व्यर्थ ही मुनिराज के प्रति भ्रम किया। वह हण्डा तो मैं मौका पाकर निकाल ले गया था। वह हण्डा तो आपके घर पर रखा है। आप जाइये ! जिस वैभव के पीछे आपने मुनिराज को कलंकी बनाया, उस वैभव को आप ही अपनाइए। मैं तो ऐसे वैभव को ठुकराकर निर्ग्रंथ मुद्रा धारण कर तपश्चरण करूँगा। यह कहकर वह कुपूत बालक सुपूत बनकर निर्ग्रंथ साधु हो गया। तो क्षणभर का सत्संग भी हम आपके हृदय को पलट देता है।

सत्संग के यत्न का अनुरोध- भैया ! बात कितनी सी है? एक भाव भर की बात है। जब खोटे भावों का सिलसिला बना डालते हैं, तब इन जीवों को ये खोटे भाव ही रूचते हैं। जब कभी सत्संग आदिक प्रभाव से अच्छे भावों का सिलसिला लग सके तो फिर वे अच्छे भावों में अपनी प्रगति करते हैं। इसके लिए हमें चाहिये सत्संग। सो यहाँ समाधि का इच्छुक भव्य यह भावना कर रहा है कि मेरा सदा आर्यों के साथ सत्संग रहे। कहीं एक साथ पैदा हुए दो तोते के बच्चे खेल रहे थे। उनमें से एक तोते को कोई पण्डित विद्वान पकड़कर ले गया और अपने यहाँ पिंजरे में पाला और उसे बोली सिखाई। दूसरे तोते को चांडाल कसाई ले गया। उसने अपने यहां अपनी बोली सिखाई। कुछ समय बाद चांडाल के यहां का तोता गन्दी बातें बोलने लगा और पण्डित विद्वान के यहां का पला हुआ तोता धर्म की बातें बोलने लगा। यह किस बात का प्रभाव है? सत्संग का। यद्यपि पुरानी मोह, राग, द्वेष की आदत के कारण सत्संग में अधिक रहने से ऊब आ जाती है, किन्तु थोड़ी सी प्रतीति हो, थोड़ा भी नियम हो सत्संग का तो वह कभी रूचि और सत्संग में बढ़ा सकता है। और कोई पुरूष सत्संग करे ही नहीं, घोरे ही न जाय तो उसके सुधरने की फिर क्या आशा है? सदा आर्य पुरूषों के साथ हमारा सत्संग रहे। आर्य किसे कहते हैं? जो संसार, शरीर, भोगों से विरक्त है, जिसमें आत्मा के हित की हार्दिक अभिलाषा हुई है, जो लौकिक परिग्रह को महत्त्व नहीं देता है, न्याय-नीति का जो आदर रखता है- ऐसा पुरूष कहलाता है आर्य। जिसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की प्राप्ति हुई है, जो अपनी पात्रता के अनुसार सम्यक्चारित्र में बढ़ रहे हैं- ऐसे पुरूषों का सत्संग हे प्रभो ! मुझे भव-भव में रहे, जब तक कि अपवर्ग की प्राप्ति न हो।

समाधिभक्त पुरूष चौथी भावना भा रहा है कि सत्चारित्र पुरूषों के गुण समूह की मेरे कथा ही बर्तो। देखिये- प्रत्येक बोल के अन्दर दो ध्वनियाँ दिखाई देंगी, कोई भी बोल रहा हो, गुणप्रेम अथवा दोषप्रेम की

ध्वनि मिलेगी। सूक्ष्मरूप से, स्थूलरूप से बात बात में ये दो धारायें झलकती हैं और फिर जब उसमें बढ़ते हैं तो स्पष्ट कथा के रूप में यह बात झलकने लगती है।

गुणानुवाद से गुणस्तवन करने वाले का स्वयं का लाभ- अब यह देखिए कि गुणियों के गुण हम अपने मुख से उच्चारण करें, उनके गुणों की कथा किया करें, इससे लाभ किसने उठाया? जिस गुणी की हम कथा करते हैं, गुणों का वर्णन करते हैं, उस गुणी को हमने लाभ नहीं पहुंचाया। सम्भव है कि उसे भी लाभ पहुंच सके, यह तो उसकी पात्रता पर निर्भर है। कभी कभी ऐसा होता है कि किसी के गुणों की कहानी कहने लगो तो वह अपनी उस बात में और विशेष सावधान होता है, थोड़ा यह निरखकर कि ये लोग ऐसा कहते हैं। हमारी कमी है, यह योग्य नहीं है अथवा जब गुण की बात सुनता है तो स्वभावत: उत्साह जगता है गुणी होने के लिए। जैसे कोई बच्चा ऊधम भी करता हो और उसे राजा बाबू कहकर समझा दो तो वह ऊधम को छोड़कर जैसा कि बड़े पुरूषों को शान्त रहना चाहिए, उस तरह से वह रहने लगता है। तो ऐसी भी स्थिति आ सकती है कि अपने गुण श्रवण करके कोई गुणों में बढें और दोषों से हटे, यह तो उसकी पात्रता पर निर्भर है, लेकिन जो दूसरों के गुणों की कहानी करता है, उसने तो तत्काल अपना लाभ ले लिया। गुण में प्रेम हुए बिना गुणों की कथा नहीं की जा सकती और कथा उसके गुण में प्रेम ही बढ़ता है। दूसरे के गुण की बात में प्रेम बढ़ता है, यह इसका भाव नहीं है; किन्तु गुणस्वरूप में प्रेम बढ़ता है, गुणविकास में प्रेम बढ़ता है, अपने गुण में, स्वभाव में प्रीति बढ़ती है। तो गुणियों के गुण की कहानी करके यह बोलने वाला अपने आपमें गुणों को प्रकट कर लेता है। गुणी के गुण बखानने से बखानने वाले को लाभ ही लाभ है। दूसरे व्यवहारिक दृष्टि से देखो तो किसी के गुण वर्णन करने में इसकी शान्ति में भंग नहीं होता। किसी का डर भी नहीं लगता। आगे पीछे की चिन्ता और शोक भी नहीं रहता। किसी की प्रशंसा करने चलें तो बड़े निर्भय होकर प्रशंसा करते हैं, पर किसी की निन्दा करने चलें तो भ्रम, चिन्ता, शोक, क्षोभ, झूठ, दोषप्रेम आदि सभी बातें आ जाती हैं। तो गुणकथा का वातावरण एक शान्ति का वातावरण होता है।

गुणी के सम्यक्त्व गुण का अनुवाद- सच्चरित्र पुरूषों के गुणों पर दृष्टि जाए तो वहाँ यही तो दृष्टि बनेगी कि धन्य है इनका सम्यक्त्व, धन्य है इनकी श्रद्धा, कैसी अडोल श्रद्धा है। जो वस्तु का स्वरूप है, उसके विपरीत इनकी भावना नहीं है। देव, शास्त्र, गुरु के प्रति कितना प्रबल श्रद्धान है कि स्वप्न में भी रागी देव को ये नहीं मान रहे, परिग्रही गुरु को ये पात्र नहीं मानते। और जिनमें रागद्वेष भरी शिक्षा लिखी है- ऐसे शास्त्रों को नहीं मानते। कितना इनका स्पष्ट ज्ञान है, कितना इनका स्पष्ट श्रद्धान है? संदेहरहित एक निर्णय के साथ जो रागद्वेषरहित विशुद्ध विकाररहित केवलज्ञानी परम आत्मा है, वही देव है, दूसरा जगत में और कोई देव नहीं है। जैसा होने में परम शान्ति हो, वही तो आदर्श है तथा वही हमारा देव है। और ऐसी वीतरागता पाने के लिए अपने आपके शुद्ध स्वरूप में समाने के लिए जिन महापुरूषों ने कमर

कस ली है और इसी कारण अब उनके संग कुछ नहीं रहा, शरीर भी अगर छोड़ा जाता तो शरीर का भी परित्याग कर देते, लेकिन शरीर कहाँ छोड़ दें? सो जिन्होंने सब कुछ छोड़ दिया, ऐसे गुरूराज जिनकी मुद्रा शान्त गम्भीर है, जो आत्मसाधना में रत हैं, ऐसे गुरु पिछी-कमण्डल और एक दो पुस्तकों के अतिरिक्त तृणमात्र भी परिग्रह साथ में नहीं रखते- ऐसे निष्परिग्रही ही हमारे गुरु हैं, ऐसी जिनकी प्रबल श्रद्धा है, धन्य है इनका सम्यक्त्व। ऐसे उनके सम्यक्त्व की प्रशंसा करना गुणविकास का कारण है।

ज्ञान और चारित्र का गुणानुवाद- सम्यक्त्व का सार लिए हुए जिनका ज्ञान है, उनके ज्ञान की प्रशंसा करना भी गुणविकास का कारण है। इनका कैसा स्पष्ट ज्ञान है, कैसा निष्पक्ष ज्ञान है। एक हित की वांछा में ही इनके ज्ञान की प्रवृत्ति है। निर्दोष ऋषि परम्परा के अनुसार व अनुभवपूर्वक इनका ज्ञान है। धन्य है इनका ज्ञान। जो सम्यक्चारित्र में रत हैं, अहिंसाधर्म का पालन करते हैं, मन से, वचन से, काय से, कृतकारित अनुमोदना से सर्व प्रकार की हिंसा का जिनका त्याग है, उनका अहिंसाव्रत धन्य है, इनकी वाणी दूसरों के लिए हितकर है। सत्य वही कहलाता है, जो हितकारी हो, परिमित हो, प्रिय हो। जिनके वचन बहुत प्यारे लगें, बड़े राग भरे, स्नेह भरे वचन हों, पर परिमित न हों, साथ ही हितकारी न हों, दूसरे को सम्यक्त्व में, सम्यग्ज्ञान में लगाने वाले न हों तो उन वचनों को सत्य नहीं कहा गया है। हित मित प्रिय वचन बोलने की जिनकी प्रकृति है, धन्य है उनका चारित्र। ये जीवों पर अपार करूणा रखते हैं। चोरी का तो कोई विकल्प ही नहीं हो सकता है। किसी भी प्रकार किसी भी रूप में कुशील का तो जहां प्रश्न ही नहीं है। परिग्रह से वे इतने विरक्त हैं कि इससे अधिक और क्या कहा जाए कि जिनके पढ़ने वाली पुस्तक को भी यदि कोई पुरूष मांगे कि महाराज ! यह पुस्तक तो बड़ी अच्छी लग रही है तो वे कह देते हैं कि हां भाई ! ले जावो। इतना तक भी विकल्प जिनको नहीं उठता कि यह पुस्तक तो हमारे पढ़ने में आ रही है, इसे कैसे दे दूं? तो इससे बढ़कर और क्या उदाहरण हो सकता है? शरीर के आराम का जिनको कोई ध्यान ही नहीं, कंकड़-पत्थर में सोने की जिनकी दृष्टि है, हां सुगमता से तख्त वगैरह मिल गए तो उस पर बैठ गए, पर संग में तख्त आसन वगैरह लेकर चलना, डोली वगैरह साथ में रखना इस प्रकार के परिग्रह जोड़ने की ओर उनकी दृष्टि नहीं रहती। वे तो सुगमता से तख्त वगैरह मिल गए तो बैठ गए या जमीन पर ही बैठ गए, इस तरह की जिनकी सात्विक प्रकृति है, जो परमविरक्त हैं, ऐसा जिनका परिग्रह, त्याग, महाव्रत है, धन्य है उनका चारित्र। तो जहां सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र से सम्बन्धित गुणों की कहानी हो रही हो तो ऐसे गुणों को बोलने वाले पुरूष का गुणों में प्रेम है, वह तो अपना लाभ तत्काल ले ही लेता है। हे प्रभो ! मेरी भव-भव में यह वृत्ति हो कि गुणों में प्रीति हो और गुणियों के गुणों को मैं बोलता रहूं, जब तक मेरा अपवर्ग न हो। और मुझे बोलना ही पड़ रहा हो तो गुणियों के गुणों का बखान करता रहूं, यही चाहता हूं।

दोषवाद में मौन की भावना- समाधिभक्त पुरूष 5 वीं भावना में भा रहा है कि दूसरे के दोष कहने में मेरा मौनभाव रहे। जैसे कि व्यवहार में लोग परस्पर दूसरे के दोष कहा करते हैं कि इसमें अमुक दोष है, इसमें अमुक दोष है। तो किसी के दोषों पर दृष्टि देने से दोषों में रूचि होती है। तो क्यों जी ! यदि कुदेव का स्वरूप कह रहे हों और वहां कोई यह कहे कि जो रागी है, द्वेषी है, वह कुदेव है तो क्या यह उसका दोषवाद है? यह दोषवाद नहीं है, यह वर्णवाद है। जैसा स्वरूप है, वैसा कहा जा रहा है। हम आपके व्यवहार में रहने वाले लोक में जो परस्पर एक दूसरे के दोष के कहने की बात है, वह है दोषवाद। कुदेव का स्वरूप शास्त्रों में हर जगह लिखा तो गया, तब क्या वे आचार्य भी स्वयं दोषप्रेमी थे? अरे, दोष तो वह कहा जाता है कि जहां गुण ही गुण तो हैं सब प्रकार से और उस अवस्था में दोष न रहना चाहिए, न रह रहा है, पर कोई उससे दोष बन गया तो उसे दोष कहते हैं। इसी प्रकार कुशास्त्र का कोई स्वरूप कहे कि जिसमें रागादिक भरी बातें हों, वे कुशास्त्र हैं तो यह दोषवाद नहीं है, यह तो स्वरूपवाद है। इसी प्रकार कुगुरू हुए परिग्रह रखने वाले, विषयों के लंपटी। सपत्नी किसी भी प्रकार से रहते हों कोई कुगुरू और कोई उनका वर्णन करे कि जिसके साथ स्त्री भी हो, जिसके साथ परिग्रह भी लगा हो, बड़े आराम के साधन भी हों, जो अपनी महत्ता जाहिर करने जैसा ढंग बनाये हो, वह कुगुरू है। तो क्या ऐसा वर्णन कर देना दोषवाद है? यह तो स्वरूपवाद है। दोष वह है कि जो जिस अवस्था में है, उस अवस्था में उसे जैसा चलना चाहिए वह चल रहा है और उस तरह चलते-चलते कदाचित् उसमें दोष आये तो वह दोष है।

दोष के प्रति ज्ञानी श्रावक की नीति- किसी के दोष को उस ही के सामने पहिले कह समझायें यदि वह न माने और समझो कि कोई महादोष करता ही रहता है, इसमें तो धर्म का हास्य होता है तो स्पष्ट पहिले यह घोषणा कर दें कि यह मेरा साधु नहीं, यह मेरा गुरु नहीं, फिर चाहे कितना ही कुछ कहे, वह दोषवाद नहीं है और दुनिया में कोई यह भी जाहिर करता रहे कि यह मेरा गुरु है और कदाचित् दोष भी बखानता रहे, तो यह अंग के विरूद्ध बात है। हे प्रभो ! मेरा पर के दोष कहने में मौन भाव रहे, क्योंकि इस प्रकृति में दोष के प्रति उसकी रूचि रहेगी। ज्ञानी पुरूष तो गुणियों में प्रेम रखते हैं और दोष वाले से उपेक्षा रखते हैं और किसी समय मित्रजन एक अपने पथ की समस्या सुलझाने के लिए स्वरूप कहते हैं दोष का, लेकिन आम तौर से ऐसी आदत न बने कि वे दोष को बोलते ही रहें। दोषों पर दृष्टि रहने की प्रकृति में ही दोषवाद का व्यवहार बनता है। हे प्रभो ! मेरा पर के दोषों के कहने में मौन रहे, भव-भव में हमें इस तत्त्व की प्राप्ति हो जब तक कि मेरा अपवर्ग न हो।

सकलयोगनिवृत्त्यभिलाषी संत की दोषवाद मौनभावना की युक्तता- मन, वचन, काय की स्थिति क्रिया से रहित, क्रोध मान माया लोभ कषाय की तरंग से शून्य केवल ज्ञानमात्र की चाह करने वाला समाधिभक्त पुरूष सर्व योगों की, मन वचन काय की प्रवृत्ति की निवृत्ति चाहता है। उसमें यह दोषवाद में मौन की भावना की बात चल रही है। मैं दूसरों के दोषों के कहने में मौन रहूं। वचन की प्रवृत्ति कम से कम रखना

हमारी शान्ति में साधक है। अधिक बोलने की आदत में अनेक बार ऐसी बात कह जाता है कि जो किसी न किसी कारण से पछतावे का कारण बनती है, ओछी बात कह जाय, अपने फँसने की बात कह जाय, दूसरे को दुखाने की बात कह जाय अथवा व्यर्थ अधिक बोलने के कारण लोग यह समझेंगे कि यह व्यर्थ ही अटपट असार बोलता रहता है, अथवा अधिक बोलने से खुद में भी रिक्तता का अनुभव होता है, अपने आपमें कुछ भला हो, शुभ शुद्ध भावना कर सकने वाला हो, यहां उसकी बात खत्म हो जाती है। इस कारण अधिक बोलने वाला आखिर दु:खी रहता है। अत: बोलना ही कम से कम चाहिए। और जब बोलने चलें तो हित मित प्रिय वचन बोलें। उसमें गुण की कथा किया करें, परदोषों के कहने में तो मौनभाव ही रखें।

दोषवादव्यवहार में कलहमूलता- लोक में कहावत है कि रोगों की जड़ खाँसी, लड़ाई की जड़ हाँसी। पहिले तो मौज के भाव में हँसी की प्रवृत्ति होती है, पर वह हास्य लड़ाई का ही कारण बन जाता है। बच्चे लोग खेल रहे हो तो उनका खेल तब तक पूरा नहीं हो सकता जब तक कुछ लड़ाई न हो जाय और रो-रोकर अपने-अपने घर न जायें, क्योंकि उन्हें तो खेलने में रूचि है, वे खेल छोड़े कैसे? इसी तरह जब हँसी का प्रसंग होता है तो उस हँसी के सिलसिले में अनुचित व्यवहार बढ़ता है और बढ़ बढ़कर वह व्यवहार तब मिटता है जब झगड़े का रूप हो जाता है, अनबन हो जाती। तो यह हास्य जो व्यवहार है वह अशान्ति का कारण है और फिर उसमें भी दोष कहने का जो व्यवहार है वह तो प्रत्यक्ष अशान्ति का कारण है। अत: हे प्रभो ! चाहता तो हूं मैं यही कि मन, वचन, काय की क्रिया से रहित, विषय कषाय के भाव से रहित केवल जाननमात्र अपनी स्थिति को अनुभवूँ। पर ऐसा जब तक अनुभव नहीं जगता तब तक मुझे ये सात बातें मिलती रहें। उनमें से यह दोषवाद मौन की भावना कही है।

हितमितप्रियवचनव्यवहारभावना- अब छठी भावना में बतलाते हैं कि मेरे सबके प्रति हित, मित, प्रिय वचन बनों। मनुष्यों का यह लौकिक जीवन कैसा व्यतीत होता है और होगा, यह वचन बोलने पर आधारित है। जो मनुष्य अप्रिय अहित दु:खदायी वचन बोलता रहता है, चुगली करना, यहाँ वहाँ भिड़ाना, अप्रिय बोलना, उस पुरूष को इस लोक में भी सुख शान्ति नहीं प्राप्त होती। कारण यह है कि सभी जीव एक समान है। यह बोलने वाला सोचता है कि मैं बड़ा चतुर हूं और बड़ी प्रतिष्ठा वाला हूं; जिस तरह मैं दूसरे को नचाऊँ, दूसरे से बोलूँ, दूसरे से व्यवहार करूँ सो कर सकता हूं, पर दूसरे लोग भी तो इसकी ही तरह अथवा इससे भी बढ़कर समर्थ हैं सो उसका जवाब मिलेगा तो इसे दु:ख ही तो उठाना पड़ेगा। इसका ख्याल भी नहीं लाता यह। अथवा इस असार संसार में मेरे करने लायक कर्तव्य है ही क्या? किसके लिए मैं व्यर्थ अनापसनाप अप्रिय और अहित वचन बोलूँ? सब जीवों के प्रति हित मित और प्रिय वचन हों। किसी जीव ने मुझसे विरोध भी रख रखा हो, उसके प्रति भी बोलने का काम आये तो वहां भी प्रिय और हित वचन बोलना चाहिए। बुद्धिमानी, विवेक इसी में है।

प्रियहितवचनव्यवहार में स्वरक्षोपायत्व- सब अपनी रक्षा की बात है कि सबके प्रति प्रिय हित वचन बोला जावे। कोई दूसरे पर एहसान डालने वाली बात नहीं है। मेरा आत्मा सुरक्षित रहे, शान्त रहे, इसके ही उपाय में यह बात कही जा रही है। मैं दूसरों से प्रिय बोलूँ तो लोग मेरा सम्मान करेंगे। मैं दूसरों का उपकार करूँ तो लोग मेरी इज्जत रखेंगे, इस प्रकार के भाव में यह समझिये कि काम तो बड़े श्रम का किया, मगर व्यर्थ गया। एक इतना सा अपने आपके लिए प्रयोजन का आशय रख लेने से उपकार का काम, श्रम का काम, ये सब व्यर्थ चले जायेंगे। सब कुछ यह मैं अपनी रक्षा के लिए कर रहा हूं, ऐसी जिसकी दृष्टि होगी उसके बोलने में, उपकार में भी विशेषता आयेगी और अपने आपमें भी एक तृप्ति उत्पन्न होगी। जो पुरूष ऐसा विचार करते हैं कि मैं इसके भले के लिए यह उपकार कर रहा हूं तो उस काल में भी उसे क्षोभ है और वह विपरीत चले और विपरीत लगेगा ही अनेक बार क्योंकि कषायें सबकी अपनी अपनी जुदी-जुदी साथ हैं, और सभी इस अपनी कषाय के अनुसार अपनी चेष्टा करेंगे, तो उस समय यह बड़ा दु:खी होगा। मैं तो इसके लिए खूब मरा पचा, इसका खूब उपकार किया और यह मेरे साथ इस प्रकार का व्यवहार करता है, इस प्रकार का खोटा उद्देश्य बना लेने के कारण उसे दु:ख उत्पन्न होगा। ये मेरे काम आयेंगे, ये मेरी इज्जत करेंगे, ऐसा खोटा उद्देश्य लेकर कोई सेवा और उपकार का काम करे तो वहाँ आत्मा की रक्षा नहीं है।

प्रियहितवचनव्यवहार का महत्त्व- यह प्रिय हित वचनालाप का व्यवहार, यह सब मैं अपने आपको सुरक्षित रखने के लिए कर रहा हूं। ये प्रिय हितवचन व्यवहार सब ढाल के काम कर रहे हैं। हित, मित, प्रिय वचन बोलना ये एक ढाल की तरह हैं कि दूसरे का मुझ पर वार न आ सके। दूसरे लोग मेरा क्यों बुरा करेंगे? जब मैं व्यवहार ही प्रतिकूल नहीं करता। यह अपनी रक्षा के लिए ही बात है। है यों समाधिभक्ति के प्रकरण में जो कुछ कहा जायेगा वह सब अपने आपके अविकार स्वभाव को प्रकट करने के ध्येय की पूर्ति के लिए कहा जायेगा। सर्वजीवों के प्रति हित, मित, प्रिय वचन हों, फिर आप किसी भी देश जावो, कहीं भी रहो, कहीं क्लेश नहीं पा सकते। नीति में कहा है विद्वान सर्वत्र पूज्यते। राजा तो अपने देश में ही पूजता हैं, पर विद्वान सर्व जगह पूजता है। उसका भाव क्या है कि विद्वान की वाणी प्रियहित हुआ करती है और बुद्धिपूर्ण भी होती है। साथ ही विद्वान भी है ना, तो बुद्धिपूर्ण और प्रिय हित वाणी होने के कारण वह सर्वत्र आदर का पात्र होता है और विद्वान कहते किसे हैं? जो प्रयोजनभूत ज्ञान पर अधिकार पाये हुए है उसे विद्वान कहते हैं। प्रयोजनभूत ज्ञान क्या है? मैं अपने आपके स्वरूप को समझ लूँ- यही मेरा प्रयोजक ज्ञान है। जिस ज्ञान के प्रताप से इसका मोहभाव, रागभाव, द्वेषभाव ये सब दूर हो जाते हैं। तो जो निर्मोह हो गया, संसार, शरीर, भोगों से विरक्ति पाये हुए है उसकी वाणी प्रिय और हितरूप होगी।

प्रियहितवचनव्यवहार से जीवन में आत्मोत्कर्ष की पात्रता- कोई मनुष्य यदि अपने जीवन में यह ही व्रत ले लें कि मैं अप्रिय और अहित वचन न बोलूँगा तो उसका जीवन शान्ति पूर्ण बनेगा और लोक में बड़ी सुख शान्तिपूर्वक रहने का कारण बनेगा। पडौसियों से कलह होना, संगवालों से कलह होना इन सबका कारण है अप्रिय वचन बोलना। कितना एक सुगम साधन है कि जिसमें न कोई खर्च है? न श्रम है और सुख शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत हो जाय। नीति में कहा है कि बचने का दरिद्रता, वचन बोलने में दरिद्रता क्यों। बोलना ही तो है, अच्छा बोलें, हितकारी बोलें। केवल प्रिय बोलने से भी बात नहीं बनती। प्रिय के साथ हितकर भी हों। हे प्रभो ! ऐसे वचन मेरे भव-भव में रहो, जब तक कि मेरी मुक्ति न हो।

समाधिभक्त की आत्मतत्त्वभावना- अब अन्तिम भावना में कहते हैं कि हे प्रभो ! मेरे आत्मतत्त्व की भावना रहो। पहिले जो 6 भावनायें बतायी गई हैं उन सबकी पूर्ति इस भावना में होती है अथवा उन सब भावनाओं का यह सब फल है। सब कुछ कर लें और आत्मतत्त्व की भावना की बात न बनायें तो फिर इस अमूल्य नर-जीवन को पाकर लाभ क्या उठाया? प्रथम तो यह देखिये कि इस मनुष्यसमुदाय में घुल मिलकर लोगों की निगाह में अपनी इज्जत बढ़ा लिया, उनसे बड़ा व्यवहार रखकर इस 10-20-50 वर्ष की जिन्दगी में कौनसा लाभ लूट लिया जायेगा? दुनिया में देखो- सैकड़ों आये, चले गए। यहाँ कोई सदा रह सकेगा क्या? और कोई किसी की अब खबर भी नहीं रख रहा। कोई किसी की खबर भी ले ले तो उससे मेरा क्या? यह आकर्षण, यह लोगों के प्रति अपने उपयोग की घुड़दौड़ ये सब अनर्थ हैं, व्यर्थ हैं, असार हैं, अहित हैं, इनसे जीव को कुछ लाभ नहीं है, इतनी बात यदि दिल में बस गयी तो इन सब बातों में अन्तर आ जाता है। तथा तब आत्मतत्त्व में भावना बन जाती है।

लोकेषणा के लगाव से व्यावृत्त होकर रत्नत्रय की उपासना में कल्याणलाभ- यह लगाव का जो विकल्प है जो कि प्राय: सभी लोगों में पाया जाता है कि ये लोग भी समझ जायें मुझे कि यह भी कुछ हैं, ये लोग भी मुझे अच्छा कहें, इस प्रकार का जो लोगों से लगाव है, यह लगाव एक ऐसी विपदा है कि जिससे फिर अनेक विपदायें इस पर आती ही रहेंगी, यह पर के लगाव की बात जिसके हृदय में घर न करे और सत्य जानें कि इतने बड़े लोक में ये सब असीमकाल परम्परा में मायास्वरूप से लगाव लगाकर कोई लाभ न मिलेगा। यहाँ के दिखने वाले समस्त पदार्थ मायास्वरूप हैं, यहाँ किसी भी पर से लगाव रखने में अपना कुछ लाभ नहीं है। मेरा लाभ तो मेरे सम्यक्त्व, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में है। इतना जिसका उद्देश्य बन गया, ज्ञानप्रकाश हो गया उसको आत्मतत्त्व की भावना करना बिलकुल सुगम है। जैसे मोही जीवों को धर्म की बात कुछ सुहाती नहीं है, उसे ढोंग और व्यर्थ का समझते हैं, यों ही निर्मोह ज्ञानी पुरूषों को इस लोक में बाहर की अन्तस्तत्त्व से रंचमात्र भी सुहाती नहीं है। उसे ये सब व्यर्थ अनर्थ असार दिखते हैं।

असार निर्मूल विकल्प में स्वसार की महती क्षति- सारमात्र तो इतना ही है कि मैं अपने को समझूँ, अपने में तृप्त रहूं। यह लाखों की सम्पदा, ये बड़े-बड़े मकान, ये बड़े-बड़े सम्बन्ध, प्रतिष्ठायें, ये चेतन अचेतनपरिग्रह ये सारे के सारे इस आत्मा के लिए अकिञ्चितकर हैं। बल्कि ये पदार्थ मेरे अपने आपको बरबादी करने के कारण बनते हैं। आश्रय तो होते ही हैं और इनके परिग्रह के लिए होड़ मचाना, धर्म के लिए समय न रहना, ये सब कितनी सी बात के लिए किए जा रहे हैं कि लोग यह समझते रहें कि यह कितना श्रेष्ठ पुरूष है? प्रयोजन कितना कि जिसमें कुछ जान नहीं, जिसका रूप रंग नहीं, जिसके कोई सिर पैर नहीं, केवल एक कल्पना, भ्रम, इतनी सी बात के लिए कितना अंधेरे में पड़ जाता है यह पुरूष कि धर्म से विमुख हो गया और संकटों के एकदम सम्मुख आ गया।

स्वरक्षाविचार की अत्यावश्यकता- भैया ! आत्मकल्याण के नाते कुछ तो सोचना चाहिए, अपने आपको अकिन्चन अनुभव करना चाहिए। मित्र कौन है? सहाय कौन है? यह अकिञ्चन भाव है, न कि यह धन सम्पदा आत्मा की रक्षा कर सकता है, कौन है? अकिन्चनभाव, न कि यह परिग्रह का लगाव। मैं हूं अकिन्चन्। बाहर में मेरा कुछ भी नहीं है, केवलज्ञान मात्र, आनन्दमात्र, भावमात्र अपने प्रदेश में रहने वाला अमूर्त, जिस किसी भव से आया, अकेला ही आया, सर्वसंग छूट गया, अकेला ही जाऊँगा, सर्वसंग छूट जायेंगे। अब इसमें इतना विकल्प रखना कि ये मेरे बच्चे हैं, इनके लिए मुझे सब कुछ करना है, तो ठीक है, करते जावो सब कुछ, पर इस धुन में न धर्म हो सकेगा, न ज्ञानार्जन हो सकेगा, न सत्संग का लाभ लिया जा सकेगा, न कोई आत्महित का प्रोग्राम किया जा सकेगा। इतने बड़े लाभों को तिलाञ्जलि दे देना एक इस भाव को लेकर कि मेरे ये बच्चे बड़े खुश रहें और धनी रहें, यह कितनी बड़ी गलती का भाव है?

अपने को असहाय बनाने की प्रक्रिया व्यर्थ भ्रान्त विकल्पों का लगाव- मरण के बाद तो इसका कुछ है ही नहीं। व्यर्थ का विकल्प मचाया जा रहा है कि मेरा कुल चलेगा। अरे मर गए, अब उस जीव का कुल क्या यहाँ रहा? पता नहीं लोक के किस कोने में पैदा होगा, पता नहीं कौनसा भव धारण करेगा तो इसके लिए यह कुल क्या रहा? लोग कहते रहेंगे कि ये अमुक के संतान हैं। अरे लोग भी न कहेंगे। उन्हें क्या गरज पड़ी है कि आप के गुण बखानते रहें। तो ऐसा कहने वाला कोई नहीं है। और कोई कहे भी तो क्या है? वह स्वयं मायामय दु:खी प्राणी है। उसके कहने से लाभ क्या? तो जब किसी भी जीव से हमारा रंच मात्र सम्बन्ध नहीं है तो आज के भव में उन बच्चों के लिए ही मुझे सब कुछ कर जाना है, ऐसा भाव रखकर जो धन जोड़ने की होड़ में लग रहे हैं, यह अपने जीवन को खोया जा रहा है। जैसे लोग सोचते हैं कि काम से फुरसत मिले तो मैं धर्म करूँ, ऐसे ही कभी यह भाव नहीं आता कि धर्म कार्य से फुरसत जितने समय को मिले उतने में मैं अपना काम निपटाऊँ। क्यों यह भाव नहीं आता? अपात्रता है। विषय कषायों की वासना है। आत्मस्वरूप के जानने की तीव्र उत्सुकता नहीं है। एक शब्द में कह लीजिए कि

हमारे आत्महित की कोई भावना ही नहीं है। सहाय होगा तो आत्मतत्त्व की भावना का भाव और रंच मात्र कुछ भी सहाय नहीं है।

श्रावकों का धर्मलक्ष्य और कर्तव्यपालन- इस लौकिक लेखे-जोखे में लोगों का बड़ा ध्यान रहता है। जैसे मैंने इतना धन कमाया, इतना अभी और कमाना है, अभी ऐसे ढंग से काम करना है आदि। अरे यह सब क्या है? ये सब व्यर्थ की कल्पनायें और असार बातें हैं, वे जो होती हैं सो होने दो। कर्तव्य है, गृहस्थी में रहकर कि किसी उपाय से धनार्जन करना उस समय में अपना कर्तव्य निभायें और उसमें अपने आप सहज जो प्राप्त हो, जो बात हो उसमें अपनी व्यवस्था बनायें। अपनी ओर से कुछ व्यवस्था न सोचें कि मुझे अपनी इतनी व्यवस्था बनानी है, इतना कार्य करना है, वह आपके आधीन नहीं है। आपका अधिकार तो इस बात पर है कि कर्तव्य करने में जो लाभ होता है उसमें ही अपनी व्यवस्था बना लें। यदि कम आय होने से कम व्यवस्था बनती है वह आपका तपश्चरण है यह गृहस्थों का तपश्चरण है कि यदि कर्तव्यपालन करते हुए कम आय होती है तो उसके अनुसार उतने में ही व्यवस्था बनाना और दूसरे का आराम देखकर जी न ललचाना और यह सब समझना कि ये सब व्यर्थ की बातें हैं, जिनमें लोग लग रहे हैं, जुट रहे हैं, ऐसा भाव रखकर उस आय के अन्दर ही अपनी व्यवस्था बनाकर, तृप्त रहकर ज्ञानार्जन के लिए, प्रभुभक्ति के लिए, सत्संग के लिए, आत्मभावना के लिए, ध्यान के लिए, अपना उपयोग जो लगाये, उस मनुष्य की जिन्दगी सफल है।

दु:ख सहते हुए भी मोहियों की मोह में मौज मानने की प्रकृति- जैसे जिसको शराब पीने की आदत हो जाती है तो उससे वह निरन्तर दु:खी रहता है। शराब के नशे से बेहोश होकर अट्टसट्ट बोले, मरे पिटे, दुर्गति हो, कहीं का कहीं पडा़ है, कुत्ते बिल्ली आदिक भी उस पर मूत रहे हैं, ऐसी तो खोटी अवस्थायें सहता है, पडौसीजन उस पर विश्वास न करें, कोई उसे रूपया पैसा उधार न दे, यों अनेक तरह के वह कष्ट भोगता रहता है, फिर भी वह व्यसनी मद्य की धुन में रहता है। ऐसी ही आदत मोही जीवों की है कि वे अनेक प्रकार के झंझटों से दु:खी होते जाते, नाना प्रकार की परेशानियाँ सहते। और अलौकिक दु:ख तो यह है कि निरन्तर क्षोभ बना रहता है, क्षोभरहित सहजपरमात्मतत्त्व की सुध भी नहीं कर पाता है, सबसे बड़ा संकट तो यह सहता रहता है, इतने बड़े संकट सहते हुए भी चाह यही रहती है मोह करने की, राग बढ़ाने की, स्नेह करने की और उसमें ही समझते हैं कि मुझे सुख होगा। दु:ख के कारण जुटाते हैं, दु:ख भोगते हैं और सुख की आशा करते हैं। दूसरे की बात तो झट समझ में आ जाती है। जैसे दीपक जलता है तो पतंगे दूसरे पतगों को जलता हुआ देखते हैं, फिर भी उस दीपक पर ही गिर कर मरते हैं, इसी तरह जिस काम में जिन विषयों के प्रसंगो में दु:ख है, क्लेश है, बरबादी है बस उसी में ही पड़ते हैं, उसी में ही गिरते हैं, थोड़ा भी समय ऐसा स्पष्ट नहीं बनाते हैं कि जिस समय केवल मुझे आत्मध्यान,

परमात्मस्वरूप का ध्यान, प्रभुभक्ति इनका ही प्रसंग रहे। निरन्तर मोह भावना बनी रहती है। अहो मोही जीव का जीवन जन्म मरण की परम्परा बनाने के लिए है।

आत्मतत्त्व को जानते रहने में भावना के स्वरूप की व्यक्ति- जो अपने आपमें आत्मतत्त्व की भावना रखता है उसे तत्काल भी शान्ति है, भविष्य में भी शान्ति है। ज्ञान का काम जानना है और भावना क्या कहलाती है? बारबार जानना, जानते रहना, इसका नाम भावना है। तो जब ज्ञान का काम जानता है, यह जानना है तो जानने की ही बात कही जा रही है। जैसे आँखें खोली तो बेन्च दिखी, जान गए बेन्च को, इसमें कुछ कष्ट हुआ क्या? कुछ भी कष्ट नहीं हुआ। मन चलाया, जिस जगह पहुंचा लो जान लिया। उस जानने में कुछ भी तो कष्ट नहीं करना पडा। जानने में कुछ कष्ट होता ही नहीं है। पर जानने के साथ जो राग द्वेष मोह लगा हुआ है उस भाव से कष्ट है। तो अब यहां यह विवेक करें कि मैं ऐसी बात को न जानूँ कि जिसके जानने में मोह राग द्वेष हम पर सवार हो जायें। ऐसा बस विवेक करना। मैं ऐसा ही तत्त्व जानूँ कि जिसके जानने में मोह रागद्वेष का अवकाश ही नहीं है। ऐसा तत्त्व मिला आपको अपने आपमें अपना आत्मस्वरूप सो उसकी भावना करनी चाहिये।

विविक्त आत्मतत्त्व में भावना बनाने से प्राप्त सुयोग की सफलता- यह मैं आत्मा सारी दुनिया से निराला हूं। इस देह से भी निराला हूं। देह में रहता हुआ जीव देह से भिन्न है और समय आने पर देह को छोड़कर चला जाता है, लोग इस देह को जला डालते हैं अथवा कहीं फेंक देते हैं। तो ऐसा यह देह ही मेरा सर्वस्व हो गया क्या? मैं तो इस देह से भी निराला प्राप्त समागमों से भी निराला केवल एक ज्ञानमूर्ति हूं। ऐसी दृष्टि बने तो श्रावककुल में पैदा होना सो सफल, जैनशासन में आना सो सफल है। अगर अपनी दृष्टि धन वैभव आदिक बाह्यपदार्थों में लग गयी तो उससे कुछ भी लाभ नहीं हैं। यह आत्मा तो खोखला ही रहा। एक जबरदस्ती की शान बनाना और भीतर में अपने आपको सम्यक्त्व से बहिर्भूत, ज्ञान से न्यारा, चारित्र से दूर अपने को रखना, विषयकषायों में लगाना, ये सब बातें हैं क्या? अपने आपको खोखला बनाने वाली ये बातें हैं इनसे इस जिन्दगी की सफलता नहीं है। हे प्रभो ! जो सार तत्त्व है, वीतराग विज्ञान भाव है वह मेरे प्रकट हो। ऐसे इस ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्व में मेरी भावना भव-भव में बर्तो, जब तक कि मेरे अपवर्ग की प्राप्ति न हो।

श्लोक 3

जैनमार्गरूचिरन्यमार्गनिर्वेगता जिनगुणस्तुतौ मति:।

निष्कलंकविमलोक्तिभावना: संभवंतु मम जन्म जन्मि।।3।।

भव-भव में मंगलमय भावना का भाव- हे देव ! मेरी भव-भव में जैनमार्ग में रूचि, अन्य मार्ग से विरक्ति जिन-गुण स्तुति में बुद्धि और निष्कलंक विमल वाणी में भावना होओ। यहाँ कहा गया है कि जन्म-

जन्म में ये चार बातें प्राप्त हों, किन्तु पूर्व छन्द की भांति यहां मोक्ष प्राप्त होने तक की सीमा की बात नहीं कही कि जब तक मेरी मोक्ष की प्राप्ति न हो तब तक भव भव में ये चीजें प्राप्त हों। न भी कहा हो तो भी भाव यही है। भक्ति की तीव्रता में जान समझ कर भी सीमावाली बात नहीं कही जाती। जैसे किसी मित्र से कोई स्नेह भरी बात करे, मैं तुमको इस जीवन में कभी नहीं भूल सकता, कहते ही हैं ऐसा, पर उसके भीतर भाव यह है कि जब तक हमारी तुम्हारी मित्रता है तब तक मैं तुम्हें जीवन में भूल नहीं सकता, लेकिन मित्र से क्या इस तरह से कहा जाता है कि जब तक हम आपका मन मिल रहा है तब तक मैं आपको नहीं भूल सकता? ऐसा कोई कहता तो नहीं, पर भाव यही है। इसी प्रकार प्रभुभक्ति के समय यह कहा तो थोड़ा भक्ति में भंग समझिये कि हे प्रभो ! जब तक मुझे मोक्ष न मिले तब तक मैं आपकी पूजा करूँगा। तो भक्ति की जब तीव्रता होती है तो उस समय यही कहा जायेगा कि मैं जन्म जन्म में आपका दास रहूं। कहते भी हैं, ऐसा कोई नहीं कहता कि हे प्रभो ! जब तक मैं तुम्हारे सरीखा न बन जाऊँ तब तक मैं आपका दास रहूं। भक्ति में ऐसा कहने की प्रवृत्ति होती है।

समाधिभाव की धुन के समय की पूर्वकथित सप्तभावनाविधि- यहां आप शंका कर सकेंगे कि इस छंद से पहिले छंद में जो पहिले निकल गया है उसमें यों कैद की बात कहना कि जब तक मेरा अपवर्ग न हो तब तक ये 7 बातें मुझे भव-भव में मिलें, यह कैसे युक्त होगा। समाधान- दूसरा जो छंद था वह समाधि भक्ति के उच्च वर्णन के बाद आया। पहिले छंद में कहा गया था कि अपने आत्मा के अभिमुख सम्वेदनरूप हे भगवान् श्रुतज्ञान रूपी नेत्र से देखता हुआ मैं तुमको केवलज्ञान नेत्र से देखता हूं। जहाँ अरिहंत के रूप में न सुमरा, सिद्ध के रूप में न सुमरा और एक स्वात्माभिमुख सम्वेदन के रूप में भगवान को निरखा और वहाँ इतने वेग के भाव से अपने आपमें चले कि श्रुतज्ञान नेत्र से देखता हुआ अब मात्र ज्ञाननेत्र से देखता हूं, इस छंद के बाद सविकल्प अवस्था के लिए प्रभु से अभ्यर्थना कर लेना तो चाहा, लेकिन समाधि के शुद्ध स्वरूप की निगरानी के आशय में रहकर जब सविकल्प अवस्था के लिए कुछ अभ्यर्थना की तो वहाँ समाधि सम्बंधित विवेक रहा और तब यह सीमा की गई कि जब तक मेरा अपवर्ग न हो तब तक 7 बातें मुझे भव-भव में प्राप्त होती रहो।

जैनमार्गरूचि का उद्देश्य- अब उसके बाद जिनेन्द्र भगवान वीतराग सर्वज्ञदेव के स्वरूप में भक्ति तीव्र उमड़ी, उस समय तीसरे छंद में कह रहे हैं कि मुझे जन्म-जन्म में ये 4 बातें प्राप्त हों। जैनमार्ग में रूचि प्राप्त हो, जैनमार्ग की रूचि कहो या रागद्वेष के जीतने के उपाय की रूचि हो, यह कहो, एक ही बात है। जैसे पूछा जाय किसी अंधे व्यक्ति से कि हे सूरदास, तुम्हें क्या चाहिए? तो वह यही कहेगा कि मुझे दो नेत्र चाहिएँ। ऐसे ही किसी भव्य आत्मा से पूछो जिसका होनहार भला है, हे आत्मन् ! तुम्हें क्या चाहिये? तो वह यही कहेगा कि मुझे तो संसार के समस्त संकट छूट जायें ऐसा उपाय चाहिए और कुछ न चाहिए। तो सर्वसंकटों से छूटने के उपाय का ही नाम जैनमार्ग है।

जैनमार्ग की निष्पक्षता की झांकी- यहां यह गर्ज नहीं पड़ी है भगवान को कि हे भक्त ! तुम मेरा स्तवन करो, तुम मेरी उपासना करो, तुम मेरी ही शरण में आवो। जो रागद्वेषरहित है, सर्वज्ञ है, अनन्त आनन्द में लीन है ऐसे प्रभु की वाणी भी नहीं होती। वहाँ तो सशरीर परमात्मा की अवस्था में भव्य जीवों के भाग्य से दिव्यध्वनि प्रकट होती है। जिस ध्वनि में यही उपदेश है कि हे आत्मन्! तुम अपने आपके स्वरूप को पहिचानो और अपने आपमें लीन हो जावो। जैसे कोई पुरूष नदी के एक घाट से पैदल चलकर दूसरे किनारे पर पहुंच गया तो वह वहाँ खड़ा हुआ दूसरे घाट वाले को कहता है कि देखो- इस ओर से आवो, यहीं से चलकर हम भी किनारे आ गए हैं ऐसे ही प्रभु का संकेत है कि हे भव्य जीवों ! तुम इस मार्ग से चलो तो मुक्ति प्राप्त करोगे। देखो- उसी मार्ग से चलकर मैं भी इस संसार महानदी के तट पर आ गया हूं। तो जो मार्ग मुझे संसार के संकटों से सदा के लिए छूटा देगा उससे बढ़कर उसके लिए कुछ जरूरी है क्या? जैनमार्ग में रूचि हो, जो मार्ग सही विधि-विधान पूर्वक बताया गया है।

जीव पर वास्तविक संकट और उससे छुटकारे का यत्न- अच्छा, बोलो- तुम्हें संकटों से छूटना है? हाँ, तो पहिले यह निर्णय करो कि संकट है क्या, जिससे कि छूटना है। लोग कहते कि मेरा घर गिर गया, मुझे छत सुधरवाना है, दुकान में ग्राहक कम आते हैं, मुझ पर बड़े-बड़े संकट लगे हैं। घर में स्त्री ढंग से नहीं बोलती, पुत्र आज्ञा नहीं मानते। इन सब संकटों से छूटना है। अरे जीव ! ये तो तेरे पर संकट हैं ही नहीं, तू तो समझ रहा है संकट। तुझ पर संकट यह है कि इन बाह्य वस्तुओं में तू अपना लगाव रख रहा है, संकट यह है तुझ पर। छत गिर गयी तो क्या हुआ? दुनिया के मकान गिरते हैं, पुत्र कुपूत निकल गया तो क्या हुआ? दुनिया में भरे हुए हैं ऐसे खोंटे लोग। संकट तो तुझ पर यह है कि यहां पर तेरा कुछ है नहीं, स्वरूप चतुष्टय न्यारा-न्यारा है और उस पर के प्रति तेरा लगाव लग रहा है। यही मेरा सब कुछ है, यह है संकट। और तुझे इन भीतर समस्त संकटों से छूटना है तो यह जानना होगा कि मैं केवल अमूर्त ज्ञानानन्द स्वरूप मात्र हूं, मेरा मेरे से बाहर किसी भी पर के प्रति रंच भी सम्बन्ध नहीं है।

संकटमुक्ति के उपाय में एकत्वविभक्त अन्तस्तत्त्व की श्रद्धा की प्रथम आवश्यकता- संकटों से छूटने के उपाय में सर्वप्रथम यह बताया है कि हम अपने आत्मा को एकत्व विभक्त समझ लें। एकत्व का अर्थ है मैं अपने आपके स्वरूप में जिस स्वभावमय हूं, मात्र मैं अकेले अपने सहज सत्त्वमात्र उस स्वरूप में निरखना यही है अपने को एकत्व में देखना। और अपने को विभक्त रूप देखना, इसका अर्थ यह है कि मेरे स्वरूप से बाहर जो जो कुछ भी है, उससे मैं निराला हूं। धन धाम, परिजन मित्रजन ये तो प्रकट जुदे हैं, उनसे तो मैं निराला हूं ही। यह देह जो मेरे साथ लग रहा है इससे भी मैं जुदा हूं और उसके ही प्रदेश में रग-रग में भरा पड़ा हुआ जो कर्मबन्ध कार्माण शरीर है उससे भी मैं निराला हूं और तो क्या; उन कर्मोदय के निमित्त से जो भी विकार उत्पन्न होते हैं- क्रोध, मान, माया, लोभादिक उनसे भी मैं निराला हूं। जैसे कि

दर्पण में आने वाला प्रतिबिम्ब दर्पण से निराला है, वह प्रतिबिम्ब दर्पण का स्वत्व नहीं है, औपाधिक विकार है ऐसे ही यह मैं समस्त परतत्त्वों से निराला हूं, इस प्रकार निरखने को कहते हैं विभक्त्व दर्शन।

आत्मोद्धार का उपाय एकत्वविभक्तदर्शन- अपने आपको एकत्व विभक्त के रूप में निरखो, आत्मा के उद्धार के उपाय में सर्वप्रथम यही उपदेश है रागद्वेष जीतने वाले प्रभु का। कोई इस उपाय को तो करे नहीं और लगा रहे श्रम में, धर्म के नाम पर पूजा, पाठ, स्तवन, जाप आदि करने के बड़े-बड़े श्रम करे, लेकिन उस भक्त की दयनीय दशा तो देखो कि वह और सब कामों में दिल भर कर जायेगा, मगर तत्त्व की जहाँ बात हो वहाँ से पीठ फेरकर जल्दी ही भागेगा, वहाँ समय न मिलेगा। तो यह धर्म की रूढ़ि में लगने वाले की कितनी दयनीय दशा है? आत्मा का उद्धार करने वाला ज्ञानप्रकाश ही है, प्रभुस्तवन आदि में भी ज्ञानप्रकाश पाते जाओ तो वह भी ठीक है। ज्ञानप्रकाशातिरिक्त अन्य किसी भी पदार्थ में सामर्थ्य नहीं है कि आत्मा को संकटों से छुटाकर परमतृप्ति में ले जाय। तो समस्त संकटों से छूटने का उपाय जहाँ ऐसा मौलिक बताया है जिसका मूल पुष्ट करके चलाने का भाव है उस जैनमार्ग में हे प्रभो ! मेरी दिन प्रतिदिन रूचि बढ़ो।

मार्ग का स्वरूप- मार्ग कहते हैं यत्न को। जिस यत्न के द्वारा उपेय ढूँढ़ा जाय। रास्ते का नाम मार्ग नहीं, सड़क का नाम मार्ग नहीं किन्तु जिस यत्न के द्वारा अभीष्ट साधन ढूँढा जाय उसको मार्ग कहते हैं। लोग जहाँ जाना चाहते हैं वह है उनका अभीष्ट स्थान और उसकी प्राप्ति जिस यत्न के द्वारा होगी उसे कहते हैं मार्ग। सो सड़क का नाम मार्ग रख दिया गया। मार्ग का शुद्ध अर्थ यह है कि जिस यत्न के द्वारा परम अभीष्ट तत्त्व की प्राप्ति हो उस यत्न को मार्ग कहते हैं। इस जैनमार्ग की, आत्मज्ञान की महिमा को इन्द्र भी हजारों लाभ बनाकर वर्णन करे तो करने में समर्थ नहीं है, लेकिन यह जीव अपनी शुद्ध दृष्टि रखकर केवल एक आत्महित की वान्छा लेकर अपने आपमें निरखे, निरखना चाहे, यत्न करे तो उसका साक्षात् अनुभव कर सकता है।

परदृष्टि में अन्त: अन्धकार- हे आत्मन् ! तुम्हें क्या चाहिए। सर्व संकटों से छुटकारा, तो प्रयोग करके देखो अपने आपमें अपने स्वरूपमात्र को तो निरखो, बाह्यपदार्थ चाहे कितने ही स्नेही हों, बड़े ही कलावान पुरूष हों, बड़े आज्ञाकारी हों, वे समस्त परिजन भिन्न ही हैं, उनकी कला का फल उन्हें मिलेगा, उनकी चतुराई का, उनके सदाचार का फल उन्हें मिलेगा। यह जीव यदि पर में दृष्टि लगायेगा, आकर्षण बनायेगा, लगाव रखेगा तो यही तो है तिल की ओर पहाड़ जैसी बात। जैसे आँखों के आगे तिल बराबर कागज लगा दिया जाय तो सब कुछ ढक गया, सारा अँधेरा हो गया, इसी प्रकार पर में यदि लगाव है, पर की ओर उपयोग है तो भीतर में अंधेरा ही रहेगा। जैसे बहुत छोटी टार्च का थोड़ासा ही मुख बदल दिया जाय, पूरब की ओर से पश्चिम की ओर को मुख कर दिया जाय तो पूरब की ओर सारा अँधेरा ही हो जायेगा। वहाँ यह सिफारिश न चलेगी कि हमने तो थोड़ा सा ही इसका मुख मोड़ा है। इसी तरह यह उपयोग यदि

जरा भी पर की ओर लग गया तो फिर उसमें आपके भीतर सारा अँधेरा ही रहेगा। हाँ जिस आत्मा ने बराबर अपने आत्मा की ओर उपयोग को अभिमुख करके अपने आपके स्वरूप की जानकारी का अभ्यास बना लिया है ऐसा पुरूष कभी कर्मोदयवश बाह्य की ओर उपयोग लगाता है तो भी उसकी प्रतीति उसकी रक्षा करती है। लेकिन प्रतीति बनाने के लिए उस अनुभव की बहुत बार आवश्यकता है।

सर्वस्थितियों में जैनमार्गानुवासितता की अभ्यर्थना- अहा ! जहां समस्त संकट एक साथ एकदम पूर्ण रूप से छुटकारा पाने के लिए मौलिक उपाय से जीवों को मार्ग में लगायेंगे उस मार्ग का हम कितना अभिनन्दन करें, कितना आभार प्रकट करें, उसके लिए कोई शब्द नहीं है। हे प्रभो ! मेरी जन्म-जन्म में इस जैनमार्ग की रूचि बनी रहे। भक्त कहता है कि मैं जैनमार्ग से रहित होकर चक्रवर्ती भी न होऊँ। उससे मुझे क्या लाभ? अँधेरा ही रहेगा, क्षोभ ही बढ़ेगा, आकुलता ही रहेगी और जैनमार्ग की सेवा मिलते हुए में यदि मुझे किसी का दास भी रहना पड़े तो वह मुझे स्वीकार है। देखिये- लौकिक पुरूष तो यह भावना करते हैं कि चाहे कैसा ही बीते पर मैं मालिक बनकर रहूंगा तो मुझे सुख प्राप्त होगा, पर यह ज्ञानी संतपुरूष ऐसी भावना भाता है कि जैनमार्ग की रूचि से रहित होकर मैं मालिकों का मालिक चक्रवर्ती भी नहीं होना चाहता हूं और जैनमार्ग में अनुवासित होकर यदि मैं छोटे से छोटे पुरूष का भी दास रहूं, तो भी मुझे स्वीकार है। क्या स्वीकार किया गया? जैनमार्ग की रूचि।

ज्ञानप्रकाश से ही संकटों के क्षय का स्मरण- अपने जीवन की वर्तमान घटनाओं में, अतीत घटनाओं में या कल्पना करके भविष्य की घटनाओं में इस तरह का चिन्तन तो करें कि जब कभी पर की ओर तेज दृष्टि होने के कारण चित्त में क्षोभ रहता है उस समय समझाने वाले लोग कितना ही समझायें पर उसकी समझ में कुछ नहीं आता। जैसे किसी को इष्ट-वियोग हो गया तो अनेक लोग बहुत-बहुत समझाते हैं पर उसकी समझ में कुछ नहीं आता। उसके चित्त में वही-वही बसता है। अनेक लोग उसका दिल बहलाने के लिए जगह-जगह घुमाने के लिए इधर उधर ले जाते, सनीमा, थियेटर वगैरह भी दिखाने ले जाते, यों अनेक कोशिशें करते हैं कि इसका विषाद समाप्त हो जाय, पर वे सब लोग अपने सारे प्रयत्न व्यर्थ पाते हैं और जब कभी स्वयं ही उसके भीतर में ज्ञानप्रकाश जगता है और अपने आपके एकत्व का उसे क्रोध होता है, सबसे निराला केवल ज्ञानमात्र यह मैं आत्मा हूं, मेरा सब कुछ यही है, इस प्रकार का जब बोध होता है तब उसके वियोग की दृष्टि स्वयमेव ही दूर हो जाती है। लोग तो यह समझते हैं कि मैंने बहुत समझाया तब इसको ज्ञान जगा, पर ऐसी बात नहीं है। जब ज्ञान उन संकटों के बहुत कुछ सह लेने के बाद अपने आप ही उसके अन्दर से प्रकट होता है तो उस एकत्व के ज्ञान के प्रकाश में वे सारे संकट स्वयं ही दूर हो जाते हैं। किसने संकट दूर कराया? इस जैनमार्ग ने। जैनमार्ग कहो अथवा आत्मा के श्रद्धान, ज्ञान और आचरण का मार्ग कहो, एक ही बात है। हे नाथ ! रत्नत्रय धर्म में मेरे रूचि जागृत रहो।

अन्यमार्गनिर्वेगता की भावना- हे प्रभो ! सर्वसंकटों से छुटकारा दिलाने वाले इस जैनमार्ग में मेरी भव-भव में रूचि बनी रहे। जहां संकटों से छूटने के उपायों में रूचि की बात कही जा रही है वहां यह भी आ गया कि इसके अतिरिक्त जो अन्य मार्ग हैं, संसार में रागद्वेष मोह में अज्ञान में फँसाने वाले, पर की ओर झुकाने वाले अन्य मार्गों से मेरी विरक्ति रहे। धर्म सम्बंधित अन्य मार्ग और लौकिक तो सारे ही अन्य मार्ग हैं, उन सबसे मेरी विरक्ति रहो। जिस देव को निरखकर निवृत्ति की शिक्षा न मिले और उल्टी प्रवृत्ति, पराधीनता, कल्पनाओं की वृद्धि, परदृष्टि को ही बढ़ावा मिले उसकी भक्ति में हम अपना क्या लाभ पा लेंगे? हानि ही है। जिन शास्त्रों के पढ़ने से सर्वप्रकार से निवृत्त होकर ज्ञानमात्र निजस्वरूप में रमने की प्रेरणा न मिले और बिना इस यत्न के अथवा आत्मानुभव के खिलाफ बाह्यपदार्थों में दृष्टि रूचि करने की प्रेरणा मिले, ऐसे शास्त्रों के अध्ययन से क्या लाभ लूट लिया जायेगा। जिस गुरु के दर्शन से समस्त परतत्त्वों से विरक्त होकर अपने आपके उस ज्ञानमात्र एकत्वस्वरूप की रूचि न जगे और उल्टी उलझनें बढें, जिनके बाहरी प्रसंग निरखकर, परिग्रह देखकर, व्यवहार निरखकर, स्नेह देखकर जहां भक्त में उलझनें बढ़े, ऐसे गुरु के प्रसंग से क्या लाभ लूट लिया जायेगा? हे प्रभो ! जैनमार्ग से अतिरिक्त अन्यमार्ग से विरक्ति हो और रागद्वेषादि विकारों को, संकटों को नष्ट करने का मार्ग मुझे प्राप्त हो।

जैनमार्गानुयायिता का प्रभाव- भतृहरि और शुभचन्द्राचार्य राजपुत्र ये दोनों सगे भाई थे, परस्पर में बड़ी प्रीति थी। कारण पाकर दोनों भाईयों को राजपाट धन वैभव से उपेक्षा हुई। भतृहरि ने तो कोई संन्यास मार्ग ग्रहण किया और शुभचन्द्र ने जैनमार्ग ग्रहण किया। बहुत काल तक तपश्चरण के बाद भतृहरि को कोई रस सिद्ध काल हो गया, जिसको लोहे पर डाला जाय तो लोहा स्वर्ण बन जाय। भतृहरि बहुत प्रसन्न हुए। और उन्होंने सोचा कि जरा अपने भाई को तो देख लें कि वह किस स्थिति में है। सो अपने शिष्यों को अपने भाई को देखने भेजा। शिष्य लौटकर आये और उन्होंने बताया कि आपका भाई तो बड़ी दयनीय स्थिति में है। अकेले जंगल में रहता है, उसके साथ खाने पीने का भी कोई साधन नहीं, साथ में कोई सेवक भी नहीं, यहाँ तक कि उसके शरीर पर वस्त्र भी नहीं है। तो भतृहरि अपने भाई की हालत सुनकर उस रस को अपने शिष्य के हाथ शुभचन्द्र के पास भेजा और कहला दिया कि अब तुम मत कष्ट सहो। मुझे यह रस सिद्ध हो गया है। आप इसे लें और मनमाना स्वर्ण बनाकर सुखमय अपना जीवन व्यतीत करें। शिष्य ने यों ही कह दिया शुभचन्द्र से तो शुभचन्द्र ने उस रस को लेकर जमीन पर बिखेर दिया। तो शिष्य भतृहरि के पास जाकर कहता है कि महाराज आपका भाई दु:ख की हालत में तो है ही, साथ ही उसका दिमाग भी ठीक नहीं है। उसने तो सारा रस जमीन पर ही बिखेर दिया। तो भतृहरि वहां स्वयं गए और बड़ी प्रीति पूर्वक अपने भाई को रस सौंपा और उस रस की प्रशंसा की तो शुभचन्द्र जी कहते हैं कि भाई ! राजपाट के समय में कौनसी कमी थी? जिसे छोड़कर यहां आयें हैं। भतृहरि ने जब उस रस की पुन: बड़ी प्रशंसा की तो शुभचन्द्र ने अपने पैरों के नीचे से धूल उठाकर एक शिला पर डाल

दिया तो वह शिला स्वर्णमय हो गयी। यह बात केवल भतृहरि को सम्बोधने के लिए शुभचन्द्र ने किया और कोई उसका प्रयोजन न था। शुभचन्द्राचार्य तो स्वानुभूति सुधारस से तृप्त थे। तो जहां ऐसा शुद्ध सम्यक्त्व शुद्धज्ञान और एकत्वविभक्त सहज शुद्ध ज्ञानानन्द स्वरूपमात्र आत्मतत्त्व में रमण का उपाय बताया गया हो ऐसे मार्ग को छोड़कर अन्यमार्ग में, अन्य उपाय में, अन्य विकल्प में मेरा जन्म-जन्म में वैराग्यभाव रहे।

जिनगुणरूचि में स्वभावदृष्टि का सहयोग- वस्तु का यथार्थ स्वरूप जान लेने के कारण जिसको अब किसी प्रकार की शंका नहीं रही, भय नहीं रहा समस्त परद्रव्यों से उपेक्षाभाव जग गया और निज सहज ज्ञानानन्द स्वभाव मात्र ही लखने के लिए जिसकी धुन बन गयी, ऐसा पुरूष जब इस निर्विकल्प भाव में कर्मविपाशकवश नहीं रह सका तब वह अपनी भावनायें बना रहा है। मेरी जन्म-जन्म में जिनगुण स्तुति में बुद्धि रहे। भैया ! सब कुछ बात बुद्धि से चलती है। जिसकी जहां बुद्धि लग जाय उस पर वैसा ही प्रभाव बनता है। जीव कौन बुरा है। जैसे यहां लोग एक दूसरे से घृणा किया करते हैं, घृणा के योग्य कौनसा जीव है? जीव, जीव सब एक समान हैं। स्वरूप सबका पवित्र है। चैतन्यमात्र है। यहाँ घृणा के योग्य कोई नहीं है। किन्तु बात इतनी ही अन्तर में आयी कि किसी जीव की बुद्धि विषय अन्याय स्वार्थ की ओर लग गयी, किसी जीव की बुद्धि सम्वेग, वैराग्य, ज्ञान, ध्यान, आत्मा, प्रभु इनकी ओर लग गयी, तो बुद्धि के लगने से ही इतना बड़ा अन्तर आ जाता है कि कोई जीव घृणा के योग्य बन गया, कोई पूज्य बन गया। जीव के स्वरूप को देखो तो मूलत: सब समान हैं।

उचित आश्रय में बुद्धि के लगने की अभ्यर्थना- अहो, जिनकी बुद्धि विषयों की ओर लग गयी, बुद्धि ही तो लगी, न लगती बुद्धि उन विषयों की ओर तो इसका कुछ बिगाड़ तो न था, बल्कि आनन्द में ही रहता। तो कोई मूल्यवान् भी प्रसंग नहीं है कि क्या करें, यह तो करना ही पड़ेगा। दूसरा कोई गुजारा ही नहीं। सारा काम बिगड़ता है। यदि राग न करें, मोह न करें, विषयों में न लगें तो यह कैसे बनेगा? वह तो काम वास्तविक पड़ा ही हुआ है। यह तो हमें करना ही पड़ेगा, ऐसा कुछ मूल्य तो नहीं है। ऐसी कुछ भी बात नहीं है। लेकिन व्यर्थ ही बुद्धि लग गयी और जिससे अनर्थ ही हुआ सो हे नाथ ! एक बुद्धि लगने भर की ही तो बात है। मेरी बुद्धि जिनगुण की स्तुति में ही लगे तो मैं बड़े से बड़े संकटों से तुरन्त ही बच जाऊँगा। रागद्वेष मोह पर विजय पाने वाले, अपने आपको केवल ज्ञानस्वरूप अनुभवने वाले, ज्ञानविकास के कारण समस्त लोकालोक को प्रत्यक्ष जानने वाले जो उत्कृष्ट आत्मा हैं उन आत्माओं में मेरी बुद्धि लगे, ऐसा समाधिभक्त पुरूष अपने हित की भावना कर रहा है।

बुद्धिधारास्रोत के स्थल पर बुद्धि के संभाल की आवश्यकता- जैसे कोई निर्णय होने के लिए कागज में कुछ लिखकर गोलियां बना दी जातीं हैं। नाम की अथवा व्यक्ति के नाम की और बच्चों से उठवाई जाती हैं। उस बच्चे से जिस नाम की गोली उठ गई उसको वह चीज मिल जाती है। तो उस प्रसंग में कोई यह हिसाब तो नहीं है कि इस बच्चे को अमुक चीज मिलेगी। जिस बच्चे ने जो गोली उठा ली सो

चीज मिल गई। यों ही समझिये कि इस बुद्धि के लगाने का भी कुछ हिसाब किताब नहीं है। (किसी स्थिति की बात कह रहे हैं) जैसे जो पुरूष ज्ञानवान् है, वह सब कुछ समझता है, लेकिन कर्मविपाक भी उदय में आ रहा है, ऐसे पुरूष की बुद्धि कोई कारण पाकर कभी किसी जगह लग जाय, कभी किसी जगह लग जाय तो एक अचानक लगने भर की बात है। तो ऐसी बुद्धि लगने की बात मेरी हे प्रभो ! आपके गुणस्मरण में हो। कहीं विषय आदिक में बुद्धि न लगो। यहाँ थोड़ा सम्बन्ध है बुद्धि लगने के विषय में कि योग्यता भी अपनी जैसी है और भाग्य जैसा है उस अनुकूल बुद्धि चलती है। इतना होने पर भी योग्यता ठीक आ गई और इस स्थिति पर कोई पुरूष है कि विषय परिग्रह प्रतिष्ठा की ओर बुद्धि लगाये तो वहाँ भी लग सके और प्रभुभक्ति ज्ञानार्जन ध्यान की ओर बुद्धि लगाये तो वहां भी लग सके। वह तो एक ऐसी संकीर्ण जगह पर ठहरी हुई बुद्धि है कि किस ओर लग जाय? ऐसी स्थिति में हे प्रभो ! मेरी बुद्धि गुण के स्तवन में ही लगे।

प्रभुगुणस्तवनमति में चिन्ता भय शोक आदि संकटों का अनवकाश- प्रभुगुणस्तवन में बुद्धि लग रही हो तो फिर उसे कोई भय नहीं, कोई चिन्ता नहीं, कोई शोक नहीं, वह स्वाधीन है, किसी के परतंत्र न रहा, किसी की आशा प्रतीक्षा में उपयोग नहीं ढुल रहा। कितनी आनन्दमय स्थिति है, किन्तु इसके लिए हमें उस स्थिति में अपनी बुद्धि की संभाल करना है जहाँ से दो धारायें कुछ भी बह सकती थीं। चाहे विषयों की ओर बुद्धि लग जाती या प्रभुगुण स्तवन में बुद्धि लग जाती। संभाल की बात असली तो वहां की है कि जिस स्थिति में किसी भी ओर बुद्धि ढल सकती है। वहां यदि प्रभुगुणस्तवन की ओर बुद्धि ढले, फिर तो बुद्धि लगी सो लगी ही रहेगी। पात्रता ही उसमें उत्तम है। बुद्धि तो लगनी चाह रही है, कहीं लगो, लगे बिना नहीं रह सकती बुद्धि। कोई भी पदार्थ हो, परिणमें बिना तो नहीं रह सकता। वह तो परिणमेगा ही। तो बुद्धि भी है, ज्ञान भी है, वह परिणमें बिना तो नहीं रहेगा। उसका तो परिणमन होगा ही और परिणमन क्या है? किसी में उपयोग लगना। उस बुद्धि को तो लगने भर से मतलब है। अब यहां इतना विवेक करना है कि हम ऐसी जगह बुद्धि लगा दें कि जहां सब आनन्द ही आनन्द है। शुद्ध ज्ञानमय अपने स्वरूप के समान परमात्मा में जिसमें स्वरूप व्यक्त हुआ है (वह मुझमें व्यक्त नहीं है, इतना ही तो अन्तर है) उस परमात्मप्रभु के गुणस्तवन में बुद्धि लगी हो तो बुद्धि खाली नहीं लग रही है, समय भी अच्छा कट रहा है, और गुणविकास का भी उत्साह जग रहा है, शुद्ध आनन्द भी प्रकट हो रहा है। किसी अन्य की पराधीनता नहीं रही है। कोई चिन्ता शोक भी नहीं रहता है। मैं केवल इतना ही ज्ञानानन्दमात्र हूं, मुझे चिन्ता क्या? जिसका जो कुछ होता हो वह उसके उपादान से है। फिकर क्या? वस्तुस्वरूप को यथार्थ जान लेने पर नि:शंक होकर प्रभुगुणस्मरण में उपयोग लगता है। तो हे प्रभो ! मेरा प्रभुगुणस्मरण में उपयोग बना रहो, जन्म-जन्म में। भाव इसका यही है के जब तक मुझे निर्विकल्प स्थिति न प्राप्त हो तब तक मेरा प्रभुगुणस्मरण (स्तवन) बराबर रहो।

निष्कलंकविमलोक्तिभावना- चौथी भावना में समाधिभक्त संत कह रहा है कि निष्कलंक, निर्मल वाणी में मेरी भावना रहो। निष्कलंक विमल वाणी में प्रतीति कब हो सकती है? जब पहिले अपने आपके एकत्व विभक्त स्वरूप का निर्णय बन जाय। जब तक पर्याय बुद्धि रहती है तब तक तो कुछ न कुछ पक्षपात रहेगा। जाति, कुल, मजहब, गोष्ठी आदि का अथवा जिस प्रकार का हम धर्माचरण बचपन से करते आये, उसके ये सारे पक्षपात रह सकते हैं, किन्तु जब अपने आपमें ऐसा ज्ञानप्रकाश होता है कि यह मैं आकाशवत् अमूर्त रूप, रस, गंध, स्पर्श, रहित केवल ज्ञानज्योतिमात्र सद्भूत आत्मतत्त्व हूं, जिसका किसी अन्य से रंच मात्र भी सम्बन्ध नहीं है, जो इस लोक में अकेला ही था, अकेला ही है और अकेला ही रहेगा। जिसके परिणमन से जिस पर जिसकी बात बीतती है, जिसमें किसी दूसरे का कुछ भी हाथ लग नहीं सकता। इस ज्ञानमात्र अपने आपको क्या करना चाहिये? कि जिससे शान्ति मिले, संकटों से छुटकारा मिले, ऐसी बुद्धि जगे अपने आपमें तो सारे पक्षपात मिट जाते हैं और तब निर्दोष वाणी के प्रति प्रीति जगती है।

निर्दोष वाणी की रूचि का आभार प्रदर्शन- धन्य है वह पुरूष जिसकी निर्दोष वाणी में प्रीति बने। कोई कुल यदि निर्दोष वाणी की परम्परा वाला भी हो और वहां भी पर्याय बुद्धि से पक्षपात करके उस धर्म में, उस वाणी में यदि प्रीति करता है तो अभी उसकी निष्पक्ष भावना नहीं बनी। निर्दोष वाणी वाले धर्म में, मजहब में भी जब तक जातिकुल आदिक का पक्षपात छोड़कर अमूर्त ज्ञानानन्दमात्र आत्मा के नाते से ही अपने कल्याण की बुद्धि नहीं जगती तब तक उसकी भी निर्दोष वाणी में प्रीति नहीं कही जा सकती। निर्दोष वाणी है कौन। जो किसी के स्नेह की बुद्धि न रखकर केवल पदार्थ में जो बात पायी जाती हो उस पदार्थगत स्वरूप के जानने की ही जिसकी भावना और चेष्टा हो, यत्न हो, निष्कलंक वाणी वहां हो सकती है। जो सत्य हो वही मेरा देव है, जो सत्य हो वही मेरा गुरु है और जो सत्यस्वरूप हो वही मेरा शास्त्र है। इस ढंग से जिसे देव, शास्त्र, गुरु का लगाव हो उसका पंथ तो ठीक रहेगा। और जो मेरे देव, शास्त्र, गुरु कहलाते, वे सत्य हैं, इस प्रकार की अपनी हठ बनाने के आशय में पंथ सही नहीं बन सकता। जो पर्यायबुद्धि से हटे, केवलज्ञान ज्योतिमात्र मैं हूं, अकेला हूं, इस मुझ ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व का उद्धार हो, शान्ति रहे, यथार्थ रहे, सत्य रहे, गलत न रहे, इस प्रकार की जब भीतर ज्योति जगती है तो वह भी स्वयं निष्कलंक बनने लगता है और उसे फिर निष्कलंक वाणी में भावना जगेगी। वस्तुस्वरूप के मार्ग को निरखकर जो देव, गुरु जचें उनमें भक्ति बने, यह बात बाद की है, किन्तु मूल में तत्त्व यही है कि वस्तु का यथार्थस्वरूप जानना और उस यथार्थ जानने में ही अपनी रति रहना।

वस्तुस्वरूपनिर्णय से उत्पन्न ज्ञानप्रकाश से सकलसंकटों का अवश्यंभावी विनाश- जगत में जो भी पदार्थ है उसमें नवीनपर्याय बनती है, पुरानी पर्याय विलीन होती है और वह वही शाश्वत रहा करता है, यह बात वस्तु के स्वरूप में सत्त्व के नाते से सबमें पड़ी हुई है। इस बात का सबसे पहिले निर्णय ठीक

कर लें। मजहब कुलपरम्परा, कुल देवता, इन बातों के निर्णय में या बुद्धि में अभी न फँसकर सीधे सही पदार्थ के स्वरूप पर अपनी दृष्टि लगायें । है ना यह तथ्य की बात कि ऐसा हुए बिना कोई ''है'' नहीं रह सकता। जिसमें कुछ भी व्यक्तरूप न हो, मूर्त या अमूर्त के ढंग से किसी भी प्रकार से किसी पदार्थ का कोई व्यक्तरूप न हो तो क्या वह पदार्थ सत कहला सकता है? है नहीं कुछ ऐसा कि जिसका कुछ भी व्यक्तरूप न हो और वह ''है'' रहा करे। जब कोई व्यक्तरूप बना तो उत्पाद और व्यय ये दोनों उसमें आ ही गए। और ऐसे उत्पाद व्यय जिसमें होते रहते हैं वह मूलभूत तत्त्व शाश्वत रहता है। चाहे जीव का नाम लो, पुद्गल लो, आकाश लो, काल लो। कोई सा भी पदार्थ लो, प्रत्येक पदार्थ में परिणमन होता है और सदा अस्तित्व रहता है, ये दो बातें प्रत्येक पदार्थ में पायी जायेंगी और जब प्रत्येक पदार्थ यों उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप हो गया तो इसका अर्थ यह है कि सभी अपने आपमें अपने ही गुणों में परिणमते रहते हैं और अस्तित्व वे अपना बनाये रहते हैं। जब सब पदार्थ इसी प्रकार के हैं तब कहां गुन्जाइश रही कि किसी पदार्थ का कुछ पदार्थ बन जाय, किसी का कोई स्वामी बन जाय? प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है, ऐसे निर्णय प्रकाश के पश्चात् जीव में मोह नहीं रहता। तो इस ज्ञानप्रकाश के होने पर सारे संकट समाप्त हो गए।

क्लेशनिवारण के अर्थ दुनियावी यत्न विधान से क्लेशों की वृद्धि- लोग अपने दु:ख मेटने के लिए बड़ा परिश्रम करते हैं, पर वह परिश्रम करते हैं उल्टा, जैसे-जैसे उस परिश्रम में बढ़ते जाते हैं वैसे ही वैसे दु:ख भी बढ़ता जाता है। जैसे कोई गोरखधंधा होता है, तो उसको ज्यों ज्यों सुल्झाने की कोशिश की जाती है त्यों त्यों वह उलझता रहता है। उसी को तो कहते हैं गोरखधंधा। तो ऐसे ही यहाँ पर मनुष्य अपना दु:ख दूर करने के लिए जैसे-जैसे प्रयत्न कर रहे हैं वैसे ही वैसे उलझनें और बढ़ती जाती हैं और यों इस मनुष्य को आपत्तियां बढ़ती जाती है, कम नहीं हो पातीं। कारण यह है कि जब बालक थे तब उतनी उलझनें न थीं, भूख के समय में रो लिया, खा लिया, खेल लिया, न चिन्ता, न शोक, न कोई फिकर, न कोई ज्यादा जानकारी। कुछ और बड़े हुए, संभाल करने लगे तो संभाल क्या हुई? जैसे-जैसे धन की आय हुई, संतान बढ़े, लोगों के सम्बन्ध बढ़े और जब बड़े हो रहे हैं तो ये सब चीजें प्राय: बढ़ती ही हैं। बच्चे भी बढ़ते, लोगों का सम्बन्ध भी बढ़ता, कुछ इज्जत भी बढ़ती, तो इन सबके बढ़ने से उसकी उल्झनें और भी बढ़ती रहती हैं। यहाँ तक कि ये उल्झनें वृद्धावस्था में भी सताती रहती हैं। तो हुआ क्या? जैसे-जैसे शान्ति के लिए हमने यत्न किया वैसे ही वैसे उल्झन हमारी बढ़ती गई।

सकलपरिहार से उलझनों का परिहार- अहो, उलझनें तो सब बढ़ीं, किन्तु इन संकटों से छूटने का कुछ उपाय नहीं है क्या? है उपाय। वह उपाय है वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञानप्रकाश। लोग तो यों हठ करते हैं कि हमने इस दुकान में बीसों वर्ष लग लगकर दुकान को इतनी बड़ी बना दिया और इतनी बड़ी आय कर लिया, अब मैं इसको छोड़ कैसे दूं? अमुक संस्था की बीसों वर्ष तक सेवा करके इतनी वृद्धि कर दी,

अब मैं इसको छोड़ कैसे दूं? मैंने अपने परिजनों की बड़ा श्रम करके ऐसी व्यवस्था बनायी, बीसों वर्ष तक बड़े ढंग से काम किया, परिवार की बड़ी अच्छी स्थिति बना दी, अब इस परिवार को मैं कैसे छोड़ दूं? अरे जरा उन चक्रवर्तियों के दिल को तो देखो कि 32 हजार मुकुटबद्ध राजा जिनकी सेवा में खड़े रहते हैं छ: खण्ड पर जिनका पूर्ण अधिकार है, इतना बड़ा वैभव जिन्हें प्राप्त है, जो बड़े रंग ढंग में मौज में लग रहे हैं, अचानक ही आधमिनट में उन्हें क्या हो गया? कमल के फूल में भँवरा मरते देखा तो देर न लगी, एकदम ही उनका ढांचा बदल गया। विरक्ति आयी। उन्होंने तो यह न सोचा कि युद्ध करने में, दिग्विजय करने में हजारों वर्ष लगे, इतना बड़ा साम्राज्य प्राप्त किया और एक ही मिनट में सारा का सारा साम्राज्य एकदम कैसे छोड़ दिया जाय? अरे उनके ज्ञान में यह आया है कि कहां कुछ मेरा? मैं तो ज्ञानानन्दस्वभाव मात्र आत्मतत्त्व हूं? मैं तो अब तक विपरीत काम कर रहा था, उल्झन में लगा हुआ था, व्यर्थ का दु:ख सह रहा था? मैं तो यह एकाकी परिपूर्ण निजस्वभाव मात्र हूं। कहाँ हूं कष्ट में? कहां है भव भ्रमण इसका? यों अपने आपके विशुद्ध ज्ञानप्रकाश की दृष्टि होती है कि समस्त संकट एक साथ समाप्त हो जाते हैं।

अपने में ज्ञानप्रकाश का स्रोत- संकट निवारक ज्ञानप्रकाश हम कहां से पायें? इस निष्कलंक विमल वाणी की भावना से पायेंगे। समाधिभाव में क्या किया जाता है? ज्ञानमात्र ज्ञानस्वरूप को ज्ञान में निरन्तर बनाये रहना है, बस यही स्थिति है समाधि की। अब बतलावो कि यह स्थिति जो कि आनन्दवाली स्थिति है, यह किसी दूसरे की दया पर मिल सकेगी क्या? किसी दूसरे की आशा से मिल सकेगी क्या? दया और आशा दूसरे की तो जाने दो। जो स्वयं प्रभु है, जो स्वयं ईश्वर है, सामर्थ्य रखता है, अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द का निरन्तर अनुभव करता है, जिन प्रभु के गुण स्मरण के प्रसाद से हमारे सब अभीष्ट सिद्ध होते हैं, समाधिभाव की भी सिद्धि बनती है उन प्रभु तक की तो दया यह मेरे समाधिभाव पर निर्भर है तो संसार के मोही अज्ञानी प्राणियों की आशा दया की तो बात ही क्या? प्रभु का स्वयं उपदेश है कि तुम अपने आपको जानो और अपने आपमें मग्न हो। ऐसी बात यदि न बन सकती हो तो मेरे स्वरूप को देखो और देखकर निर्णय करके अपने आपमें समा जावो। उनका यह उपदेश नहीं है कि तुम सदा मेरी शरण में रहा करो, मेरा ही पूजन किया करो। प्रभु का उपदेश है कि अपने में अपना ज्ञानप्रकाश पाकर कृतार्थ होओ।

समाधिभाव लाभ के अर्थ अपने कर्तव्य पर विचार- भैया ! सकल संकटहारी परम समाधिभाव की प्राप्ति के लिए हमें कुछ करना है कि नहीं करना है? कुछ तो अपने आप पर दया करके अपने आपसे बात तो कर लो। परिग्रह में, परिजन की बढ़ोतरी में, वैभव की वृद्धि में अपना उपयोग लगाकर कौनसा लाभ लूट लिया जायेगा? इनसे तो वर्तमान में भी दु:ख होता है और भविष्य में भी दु:खी होना पड़ेगा। तो थोड़ा कुछ धीरता पूर्वक अपने आप पर दया करके स्वहित पर विचार तो करना चाहिये। ये सब बातें प्राप्त होंगी स्वाध्याय से, ज्ञानार्जन से, निर्दोष वाणी की भावना से। लेकिन इसकी ओर तो दृष्टि न हो और एकदम

खिंचे चले जायें पर की ओर, परिग्रह की ओर। बड़ी शौक शान से लोग कहते हैं कि आज का जमाना तो पैसे का है। जितना पैसा जिसके पास बढ़ेगा उसको उतना ही सुख, शान्ति मिलेगी, इज्जत मिलेगी।..... अरे हमें न चाहिए वह सुख शान्ति वह इज्जत। मोही अज्ञानी प्राणियों ने यदि कुछ इज्जत कर दिया और उसमें कुछ कल्पित मौज मान लिया तो क्या कोई यह भली बात है? मुझे तो ये कुछ न चाहिये। मैं तो भिक्षा मांगकर भी उदर कर सकूँ तो वह भी बुरी बात नहीं, लेकिन जैनमार्ग से बहिर्गत रहकर अर्थात् आत्मज्ञान से पृथक रहकर मैं पर के बारे में कुछ भी विकल्प करके रहूं वह मेरी बुरी बात है। धर्म मार्ग में प्रगति करने के लिए दिल में बड़ा साहस बनाना पड़ेगा। क्या जीव गर्भ में मर नहीं जाते? उत्पन्न होते ही, निकलते ही मरते नहीं हैं क्या, छोटी उमर के जीव गुजरते नहीं हैं क्या? उन्हीं जीवों सरीखा ही तो मैं हूं। गर्भ में गुजर जाते, गर्भ से निकलते गुजर जाते या बचपन में गुजर जाते, तो मेरे लिए यहाँ का कुछ भी क्या था? सुयोग से यदि बच गए तो मेरा जीवन बस दुनियावी संग से हट कर अपने आपकी दया के लिए ही है, ऐसा जिसका साहस होता है, भली भांति धर्म का पालन वही कर सकता है।

चारों मार्गभावनाओं का समाधिभाव के पोषण में सहयोग- जिस-जिस भावना से समाधिभाव के जागृत होने से प्रेरणा मिलती है उन-उन कार्यों की भावना करना सो भी समाधिभक्ति है। इस छंद में जो चार प्रकार की भावनायें बतायी गई हैं वे समाधिभाव के पोषण का कार्य करती हैं। जैनमार्ग में रूचि होना अर्थात् राग, द्वेष, मोह को नष्ट करने के उपाय में रूचि होना यह समाधिभाव का ही पोषक है। समता कहते हैं रागद्वेष से रहित विशुद्ध चैतन्यपरिणमन को। इसकी सिद्धि सम्यक्त्व, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के मार्ग से ही होती है। जो मार्गरागद्वेष को प्रकट करते हैं, समस्त परतत्त्वों से भिन्न ज्ञायकस्वभाव मात्र निज तत्त्व की दृष्टि से दूर रखते हैं, उन सब मार्गों से विरक्त रहना, उनसे अलग रहना, इस प्रकार की भावना भाने से कुमार्ग में गति नहीं बन सकती है और फिर समाधिभाव की शीघ्र प्राप्ति की जा सकती है। जिनेन्द्रदेव अर्थात् वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा मात्र शुद्ध ज्ञानानन्द की मूर्ति है, जिसमें विकारभाव नहीं है, ऐसे अविकार प्रभुस्वरूप की भावना से समाधि को प्रेरणा मिलती है इसी प्रकार उन वचनों में रति होना, उन वचनों पर चलना, जो वचन निर्दोष हैं, निर्मल हैं, आत्मा के विशुद्ध कल्याण की बात कहने वाले हैं उन युक्तियों में, वचनों में भावना होना यह भी समाधिभाव के निकट ले जाने वाली भावना है। इस प्रकार यह समाधिभक्त संत इन चार भावनाओं की अभ्यर्थना कर रहा है कि यह मुझे जन्म-जन्म में प्राप्त हो।

श्लोक 4

गुरूमूले यतिनिचिते चैत्यसिद्धान्तवाधिसिदोषे।

मम भवतु जन्मजन्मनि संन्यसनसमन्वितं मरणम्।।4।।

समाधिभक्त की ससंन्यासस्मरण की भावना- मेरा जन्म-जन्म में संन्यास सहित मरण होवो। जो बात उत्तम है, आत्मा को हितकारी है, उसकी भव-भव में अभ्यर्थना करना चाहिए, ऐसी प्रकृत्या वाणी निकलती ही है। देखिये कहां तो मरण की भावना और उसका फल है मरणविनाशक जो मरण जन्म से छुटकारा दिलाने वाला है और उस मरण की प्रार्थना करना कि भविष्य में मेरा संन्यास सहित मरण हो। अर्थ उसका यह है कि जहां संन्यास पूर्वक मरण होगा तो उसके भव विशेष रह ही नहीं सकते। लेकिन जो शरणभूत तत्त्व है उसकी इतनी विशिष्ट अभ्यर्थना करना यह उसकी रूचि का द्योतक है, जीव का उपकारी मरण है। मरण के बाद पुराने भव की सब आपत्तियां छूट जाती हैं तथा सदा के लिए जन्म न हो ऐसे निर्वाण की प्राप्ति मरण के बाद ही होती है। सो ऐसे अलौकिक मरण का नाम है निर्वाण। जिस मरण के बाद फिर इस जीव का देह में जन्म न हो उस मरण को निर्वाण कहा गया है। अथवा इसे पंडितपंडितमरण भी कहते हैं। पंडितपंडितमरण का साधक संन्यासमरण मुझे प्राप्त हो, ऐसा मर्म इस भावना में है।

पाँच प्रकार के मरणों में से बालबालमरण, बालमरण, बालपंडितमरण का निर्देशन- मरण 5 प्रकार के होते हैं- बालबालमरण, बालमरण, बालपंडितमरण, पंडितमरण, पंडितपंडितमरण। बालबालमरण का अर्थ है अत्यन्त अज्ञान अवस्था में मरण होना। जहां सम्यक्त्व नहीं है, मिथ्यात्व से वासित चित्त है, मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीव को बालबाल कहते हैं। बिल्कुल बच्चा याने अज्ञानी। उसके मरण का नाम है बालबालमरण। बालमरण कहते हैं अविरत सम्यग्दृष्टि के मरण को। अविरत है, व्रती नहीं है इस कारण वह बच्चा है लेकिन सम्यक्त्व है। मिथ्यात्व नहीं रहा इसलिए बिल्कुल बच्चा न रहा, इसलिए उसे बालबाल न कहकर बाल शब्द से कहा है। बालमरण अर्थात् अविरत सम्यग्दृष्टि जीव का मरण। तीसरे मरण का नाम है बालपंडितमरण। जो गृहस्थ है, उत्तम श्रावक है, पंचम गुणस्थानवर्ती है, जिसका प्रतिमा प्रतिमारूप नियम है, जो अपने जीवन में बड़ी शान्ति से रह रहा है, मरणकाल में संन्यास की भावना हुई है ऐसे धार्मिक गृहस्थ के मरण का नाम है बालपंडितमरण। चूंकि कुछ व्रत आ गए हैं, संयमासंयम पालन किया है इस कारण तो है यह पंडित किन्तु पूर्णसंयम प्राप्त नहीं हुआ है इस कारण है यह बाल। इसके मरण को कहते हैं बालपंडितमरण अर्थात् प्रतिमाधारी गृहस्थ श्रावकों का संन्याससहित मरण।

पंडितमरण का निर्देशन- चौथे मरण का नाम है पंडितमरण। जो सकलव्रती है,

निष्परिग्रह हैं, केवल आत्मा की उपासना में ही जिसकी धुनि है ऐसे मुनियों का जो संन्यासपूर्वक मरण होता है उसको पंडितमरण कहते हैं। वे पंडित हो गए। पंडित का अर्थ है-'पंडां इत: इति पंडित:, जो विवेकबुद्धि को प्राप्त हो गया है, यह करने योग्य है यह नहीं इसका विवेक जिसे स्पष्ट प्रकट हुआ है ऐसे पुरूष को पंडित कहते हैं। पंडित शब्द का बहुत ऊँचा अर्थ है, किन्तु आजकल तो जो व्यक्ति रसोई बना दे, पानी भर दे उसे भी पंडित कहते हैं। लोग तो अपने नौकरों का नाम रखते हैं पंडित। पर पंडित शब्द का कितना ऊँचा अर्थ है कि विवेक बुद्धि वाला पुरूष। विद्वान तो जब ऐसा विवेक बुद्धि वाला पुरूष ब्रह्म

तत्त्व का ज्ञानी पंडित कहलाया और उसका लड़का निकला मूर्ख तो लोग उसे भी पंडित कहने लगे। जैसे यहां मास्टर के लड़के को भी लोग मास्टर कह दिया करते हैं, ऐसे ही पंडित के लड़के को भी लोग पंडित कह देते हैं, तो नाम तो केवल पंडित रह गया मगर उसमें कुछ गुण नहीं, कोई विवेक की बात नहीं। वे पंडित केवल रसोई बनाने की नौकरी करने लायक ही रह गए। तो रूढ़ि में इस पंडित शब्द की मिट्टी पलीत कर दी गई। पंडित का नाम है पूज्य ऋषि संतों का संन्यासपूर्वकमरण।

पंडितपंडितस्मरण का निर्देशन- पंडितपंडितमरण कहते हैं निर्वाण को। चार घतिया कर्मों के जिनके विनाश हुआ है अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्तशक्ति, अनन्त आनन्द जिनके प्रकट हुआ है, सशरीर परमरत्मा हैं, सगुणब्रह्म, सकल परमात्मा, उनके शेष चार अघातिया कर्म जब नष्ट होते हैं, आयु भी नष्ट होती है तो शरीर छूट जाता है और वह निकलपरमात्मा अशरीर परमात्मा हो जाता है तो इसे कहते हैं निर्वाण। पर निर्वाण में भी आयु का क्षय तो होता ही है। चार अघातिया कर्मों का क्षय होता है। तो आयु के क्षय का नाम मरण है। तो निर्वाण कहो अथवा मरण कहो, कोई भिन्न बात तो न रही, लेकिन उस मरण के बाद अब कभी भी जन्म नहीं होना है, इस कारण उसे पंडितपंडितमरण कहते हैं। यहां समाधिभक्त संत अपने लिए संन्याससहित मरण की प्रार्थना कर रहा है।

संन्यासमरण का प्रभाव- ऋषि संतों ने बताया है कि यदि संन्याससहित मरण किसी का बन जाय अर्थात् मरण समय में रागद्वेष मोह के विकल्प विकार न आयें और शुद्ध चैतन्य स्वरूप के स्मरण सहित मरण हो जाय तो संन्यास मरण करने वाला अधिक से अधिक कुछ ही भवों में निर्वाण को प्राप्त होगा। समाधिमरण की इतनी बड़ी महत्ता है। लेकिन घर में जिस बड़े ने या किसी ने जिन्दगी भर घर की सेवा की, परिजनों की सेवा की, सारा जीवन उनके ही लिए लगाया, यों कहो कि कोल्हू के बैल की तरह भी जुते, अपने आपका कुछ उपकार करने का भी अवकाश नहीं पाया इस तरह तो परिजनों के लिए जिन्दगी लगाया, लेकिन मरण समय में न परिजनों को यह ख्याल है कि इनका एक दो घंटे का समय धर्मसाधना पूर्वक व्यतीत हो, आत्मस्वरूप की भावना में और प्रभुभक्ति में व्यतीत हो, ऐसा इनका सुयोग मिलायें, ऐसी भावना तक भी परिजनों में नहीं होती। मरते मरते तक भी खाने पीने दवा और प्रकार के आराम, खुशामद, ये सभी तरह की दुनिया की खुशामदें तो करेंगे, पर धार्मिक सेवा का ध्यान नहीं रहता और परिजन भी क्या करें? मरने वाला भी स्वयं ऐसी राग मोह भावना में रहता है कि उसका भी चित्त नहीं चाहता किन्तु वह पुरूष धन्य है जिसका चित्त मरण समय में सल्लेखना संन्यासपूर्वक मरण की अभिलाषा रखता है और वे कुटुम्बीजन धन्य हैं जो उस मरने वाले के प्रति सच्ची मित्रता निभाते हों। समाधिमरण का बहुत ऊँचा महत्त्व है।

गुरूमूल में संन्यासमरण की अभ्यर्थना- यह समाधिभक्त संत अपने लिए अभ्यर्थना कर रहा है कि मेरा जन्म-जन्म में संन्यास सहित मरण होवे। गुरु जहाँ विराजमान हों उनके चरणों के निकट में मेरा

संन्यास मरण होवे। इस जीवन के सच्चे सहाय, शरण, साथी गुरु ही हैं। जीव को मिलता क्या है? केवलभाव। हर जगह किसी भी प्रसंग में यह भाव ही बनाता है। भावों के अतिरिक्त अपने में और कुछ प्राप्त नहीं करता। जो बाहरी पौद्गलिक सम्पदा ढेर है, जिसको पाकर लोग समझते हैं कि मुझे इतने का लाभ हुआ है, मेरी सम्पदा इतनी बढ़ गई है, तो यह विकल्प किया करें, पर सम्पदा तो सम्पदा की जगह है। सम्पदा के स्वरूप में उसका रंचमात्र भी लेश भी वहाँ से निकलकर उसके आत्मा में नहीं आया, तो फिर लाभ क्या रहा? सर्वथा यह जीव पर से रीता ही रहता है। फिर रागी, द्वेषी, मोही, परिजन, मित्रजन, रिश्तेदार इन सम्बन्धियों का जो शरण है, इनके मूल में, इनके बीच में जो मरण है वे इसके मरण के बिगाड़ने के कारणभूत हैं। कोई कोई ही ज्ञानी संत परिजन मित्रजन होंगे कि जो इसके संन्यासमरण की चाह करते हों।

मुनिसमुदाय के मध्य संन्यासमरण की अभ्यर्थना- मरण समय में जैसे भाव होते हैं वैसे संस्कार चलते हैं और जन्म समय में जो संस्कार बना उसका प्रभाव जीवन भर रहता है। यदि समतापूर्वक मरण हो, प्रभुभक्ति सहित मरण हो तो ऐसा पुण्यवान जीव अगले भव में भी पुण्य सम्पदा को भोगेगा और पूर्ण महत्त्व तो इसमें है कि ऐसी सद्बुद्धि जगे कि समस्त परतत्त्वों से विरक्ति बने और आत्मस्वरूप में रमण हो। ये सब बातें संन्यासमरण के प्रताप से सुगम हो जाती हैं। हे प्रभो ! मेरा संन्यास सहित मरण हो और गुरु के मूल में, जो मेरे शिक्षक हैं, आचार्य हैं उनके चरणों में मेरा संन्यास सहित मरण हो। मुनियों के समुदाय में मेरा मरण हो। इस जीव पर प्रभाव पड़ता है वातावरण का, जैसे मंदिर में शास्त्र पढ़ रहे हों, तो इतना बड़ा कमरा बहुत से लोगों के घर में है और वहाँ शास्त्र पढ़ने कोई बैठ जाय, सुनने वाले लोग सुनने बैठ जायें तो यह वातावरण कहाँ प्राप्त हो सकता है। जहाँ बहुत से मुनिजन विराजे हों, जो संसार शरीर भागों से विरक्त हैं, जिनकी केवल एक आत्मस्वरूप में समा जाने की धुन है, ऐसे मुनि समुदाय के बीच पहुंचते ही उपयोग बदल जाता है।

मुनिसंग से अधमों का उद्धार- देखिये गुरूसत्संग का महत्त्व- अधम से अधम पुरूष भी मुनि संग क्षणमात्र को भी पाकर तिर गए। एक कथानक में कहते हैं कि कोई लकड़हारा था। वह बहुत गरीब था। एक दिन वह जंगल में लकडियाँ बीनने गया था। वह बेचारा फटी पुरानी धोती का एक टुकड़ा लंगोटाकार रूप में पहिने हुए था। उसे जंगल में एक निर्ग्रन्थ मुद्राधारी मुनिराज के दर्शन हुए। उन्हें देखकर सोचा- ओह ! मैं व्यर्थ ही अपनी गरीबी के कारण दु:खी रहा करता हूं, यह व्यक्ति तो मेरे से भी गरीब, अधिक गरीब है। इसके पास तो एक भी वस्त्र नहीं है। खैर, थोडी देर को वह लकड़हारा उस मुनि के पास गया। मुनि ने उसे देखते ही अपने ज्ञानबल से जान लिया कि यह भव्य है, इसकी सिर्फ तीन चार दिन की ही आयु शेष है। मुनिराज ने उसे कुछ उपदेश भी दिया। बाद में जब मुनिराज चर्या के लिए पास के किसी नगर में गए तो वह लकड़हारा भी मुनिराज के पीछे-पीछे गया। वहाँ तो बीसों चौके लगे थे और सभी लोग

हाथ जोड़-जोड़कर मुनिराज को आहार करने बुला रहे थे। मुनिराज ने तो आहार ले लिया और नगर के लोगों ने उस लकड़हारे को भी ब्रह्मचारी जैसा समझकर आहार के लिए बुलाया। तो जब पहिले से ज्यादा आदर हो जाता है तो उस आदर से ही पेट भर जाता है। खाना, पीना नहीं चलता। आहार करके फिर मुनिराज जंगल आये और दो दिन का उपवास का नियम लेकर ध्यान में बैठ गए। वह लकड़हारा भी उसी जंगल में आकर मुनिराज के पास बैठ गया। जब दूसरा दिन हुआ तो वह लकड़हारा बोला- आज भी आप आहार लेने चलिए, देखो हम तो कल भूखे रह गए। मुनिराज मौन रहे। तो वह लकड़हारा मुनिराज का पिछी कमण्डल लेकर नगर पहुंचा तो नगर के लोगों ने उसे क्षुल्लक समझकर बड़े आदर से बीसों लोगों ने पड़गाहा। उस दिन भी विशेष आदर होने से आहार न लिया। लोगों ने सोचा था कि हम लोगों से विधि नहीं बनी, इसलिए इन महाराज ने आहार नहीं लिया। अब वह लकड़हारा उसी जंगल में आया और पिछी कमण्डल मुनिराज के पास रख दिया। वह लकड़हारा उस मुनिराज के पास बैठ गया। मुनिराज ने ध्यान समाप्त होने के बाद उसे उपदेश दिया, तत्त्वस्वरूप बताया, उसका होनहार अच्छा था। उसे ज्ञानप्रकाश हुआ। मुनिराज ने बताया कि तेरी आयु शीघ्र ही समाप्त होने वाली है, इस थोड़े से समय में तू अपना कल्याण कर ले। उस लकड़हारे ने वहीं पर नियम संयम के व्रत लिए और संन्यासमरण करके स्वर्गादिक में उत्पन्न हुआ। तो प्रयोजन यह है कि सज्जनों का क्षणमात्र का भी संग इस जीव के भले का कारण बनता है। भैया ! कुसंग से मिथ्या विपरीत मार्ग में दृष्टि लग रही है, बस उतना ही तो फर्क है कि बुद्धि असार विकल्पों का ओर लग रही है, बस उनसे हटने की बात है। कोई संग मिले और उस असार विपरीत मार्ग से बुद्धि हट जाय, फिर उसके लिए मार्ग तो खुला ही हुआ है।

जिनबिम्ब के निकट संन्यास मरण की अभ्यर्थना- यहाँ समाधिभक्त ज्ञानी संत यह अभ्यर्थना कर रहा है कि हे प्रभो ! मेरा संन्यास सहित मरण हो और मुनि समुदाय के बीच हो। जहां जिनबिम्ब निकट हो, जिन प्रतिमा जो मूर्ति, लोगों को मानो उपदेश दे रही है कि ऐ संसार के प्राणियों ! इस जगत में कुछ सार नहीं है तुम अकिन्चन हो, देह से भी निराले हो, सर्व परिग्रहों की वान्छा छोड़कर, सबसे रागद्वेष छोड़कर ऐसी निर्ग्रंथ मुद्रा में रहो और अपने आपमें प्रभु को निरखो तो तुम्हें प्रभु के दर्शन होंगे और सत्य अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होगी। जिसकी मुद्रा अकिन्चनरूप में है, कोई वस्त्र नहीं, कोई स्त्री पुत्रादिक नहीं, कोई हथियार नहीं, केवल गातमात्र है और वह भी एक पद्मासन्न से ध्यानस्थ, जो मुद्रा संकेत कर रही है कि दुनिया में कोई भी स्थान ऐसा नहीं जहाँ जाया जाय तो सार मिले, इस कारण पैरों में पैरों को जकड़ करके मैं बैठ गया हूं। अब मुझे कहाँ जाना है? लोक में ऐसा स्थान नहीं जहां कोई लाभ की बात प्राप्त हो सकती हो, जगत का कोई भी कर्तव्य ऐसा नहीं जो मेरे भले के लिए हो, इसलिए हाथ पर हाथ रखकर बैठा हूं, हे भक्त ! तुम भी इसी मुद्रा में बैठकर अपने आपमें प्रभु का दर्शन करो। कुछ भी बात यहां ऐसी नहीं है जो बोली जानी चाहिए। बोलने में क्या सार है? उस बोलने का परित्याग करके पूर्ण मौन

से रहो। लोक में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जिसको आंखों देखा जाय, जो देखने लायक हो, जो मेरे लिए कोई सार लाभ की बात दे सकता हो। इस कारण ये नेत्र देखो- पर को देखने से रहित हैं। नासाग्रदृष्टि:। तो नासिका के स्थान पर जिसकी दृष्टि है, अपने आप ऐसी मुद्रा भव्य जीवों को उपदेश दे रही है। तो जिसकी मुद्रा के दर्शन से ही बहुत से पाप संकट टल जाते हैं- उस जिन-बिम्ब के समक्ष मेरा संन्यास सहित मरण हो।

मूर्ति में मूर्तिमान की पूजा- भैया ! अब आजकल साक्षात् भगवान् के दर्शन तो होते नहीं इस क्षेत्र में, तो भगवान की मूर्ति में ही भगवान की स्थापना करके उससे कुछ शिक्षा ग्रहण करते रहें। वह मूर्ति ही भगवान् नहीं है, किन्तु जब जिसके प्रति विशेष आदर होता है तो उसकी हम फोटो में, मूर्ति में स्थापना करते ही हैं। जैसे यहाँ ऐसा रिवाज है कि लोग अपने घर के किसी बड़े बाबा दादा आदि के मरण हो जाने के बाद उनकी फोटो बनाकर उस फोटो को ही उस रूप में मानकर पूजते हैं। उस फोटो का अगर कोई अनादर करे तो वह अनादर किसी को सहन नहीं होता है, इसी तरह से भगवान के भक्त लोग भगवान की स्थापना मूर्ति में करके उस मूर्ति को भगवान के रूप में मानकर पूजते हैं। तो उस मूर्ति को वे नहीं पूजते किन्तु उस मुर्ति में स्थापित ज्ञानानन्द पुंज, ज्ञायक स्वभाव भगवान को पूजते हैं कि हे प्रभो ! मेरा जिनबिम्ब के निकट संन्यास सहित मरण होवो।

समाधिभक्त की सिद्धान्तवार्द्धिसद्घोष के बीच संन्यासमरण की अभ्यर्थना- समाधिभक्त संत यहाँ अभ्यर्थना कर रहा है कि जहाँ पर सिद्धान्तरूपी समुद्र के उत्तम शब्द हो रहे हों वहाँ मेरा संन्यास सहित मरण होवो। परमेष्ठी मंत्र का उच्चारण, गुणगुणों की कथा प्रभुचरित्र, आत्मस्वरूप ये सब वहाँ वर्णित हो रहे हों, ऐसे शब्दों के बीच मेरा संन्यास सहित मरण होओ। किसी समय प्रथा थी कि मरणकाल जब निकट आये तो उस मरने वाले का लोग संन्यास मरण कराते थे, लेकिन जैसे-जैसे समय गुजरा वैसे ही वैसे उसमें परिवर्तन आता गया। उस समय की कुछ क्रियायें तो अब भी की जाती हैं, पर यह पता ही नहीं है कि ये क्रियायें किसलिए की जाती हैं। जैसे कि जब जान लिया कि अब इसका 10-15 मिनट में ही मरण होने को है, अब अधिक समय न लगेगा तो उसे खाट से नीचे लिटा देते हैं। यह समाधिमरण का ही तो संकेत है, पर लोग इसे नहीं जानते। कपड़े भी हटा देते हैं, कोई एक आध कपड़ा रख लेते हैं, यह है संन्यासमरण की प्रक्रिया, पर इसको लोग समझते नहीं हैं। और शायद वे इस भाव से नीचे लिटा देते हों कि पलंग पर ही इसका मरण हो गया तो पलंग अशुद्ध हो जायेगा, इसे फैंकना पड़ेगा। चाहे अब यह भाव लोग रखते हों कि यदि ज्यादा कपड़े उढ़ाकर रखेंगे तो फिर इसका मरण हो जाने पर ये सारे कपड़े बेकार हो जायेंगे। रिवाज भी ऐसा है कि जिन वस्त्रों को ओढे हुए मरण होता है उन्हें घर में नहीं रखा जाता। किसी को दे दिये जाते हैं। तो अब चाहे लोग यह भाव करने लगे हों, पर ये सब प्रक्रिया में संन्यासमरण का संकेत करने वाली हैं।

संन्यसन का अर्थ- संन्यास का अर्थ है समीचीन रूप से न्यास कहो- त्यागना फैंकना, दूर करना, (परतत्त्वों को) अथवा न्यास का अर्थ रखना भी है। सम्यक् प्रकार से रत्नत्रयरूप धर्म को रखना, जहां केवल आत्मस्वरूप, आत्मज्ञान और आत्मस्मरण की ही प्रक्रिया चल रही हो ऐसी प्रक्रिया को कहते हैं संन्यास। तो संन्यासपूर्वक मरण होवो उसे संन्यासमरण कहते हैं। इसका दूसरा नाम है सल्लेखनामरण। लेखन कहते हैं फाड़ने को अर्थात् सम्यक् प्रकार से विषय कषाय विकार परिणामों को हटाना फाड़ना, दूर करना इसको कहते हैं सल्लेखना। सल्लेख पूर्वक मरण होने को सल्लेखनमरण कहते हैं, इसका ही नाम है समाधिमरण। सम्यक प्रकार को जो शुद्ध तत्त्व है, ज्ञान का अज्ञान में समा जाना, ज्ञानस्वभाव को ही जानते रहने की स्थिति होना यह परमतत्त्व जहाँ सम्यक् प्रकार से ग्रहण किया जाता है, आधेय होता है उसको कहते हैं समाधि अथवा रागद्वेष रहित केवल विशुद्ध जानन की स्थिति को कहते हैं समाधि।

समाधिमरण का महत्त्व- भैया ! समाधिपूर्वक मरण होने का नाम है समाधिमरण। जब यह भव छूट ही रहा है और छूटने के बाद फिर इस भव के समागम से कोई सम्बन्ध रहेगा ही नहीं, तब इस थोड़े से 10-5 मिनट के समय में यदि इन समस्त समागमों से मुक्ति पाले। इनसे चित्त हटा ले और अपने स्वरूप, स्वभाव में चित्त को लगा ले तो ऐसे समाधि सहित मरण से इसको बड़ा लाभ मिलेगा और समाधि रहित होकर मरण करे तो दु:खी होकर बिल्ला करके तो यहाँ मरण किया और दु:खी होकर चिल्लाकर अगले भव में उत्पन्न होंगे और अगले भव में भी दु:ख क्लेशों के ही वातावरण मिलते रहेंगे। समाधिमरण का महत्त्व जानें और अपने उपयोग में यह निर्णय बना ले कि मेरा उपकारी तो भाव समाधिमरण है और उस ही समाधिमरण की हमें अभी से ही तैयारी करनी है। जब हम मंदकषाय से रहें, देव, शास्त्र, गुरु के श्रद्धान में रहें, आत्मा के सत्यस्वरूप में उपयोग जमाने का यत्न करे, हमारा यह जीवन व्रत नियम संयमपूर्वक व्यतीत होगा तो हममें वह पात्रता रहेगी कि मरणकाल आने पर हम क्षोभ न करेंगे और आत्मा के विशुद्ध ज्ञानानन्द स्वभाव का स्मरण उपासना करते हुए इस देह को छोड़ेंगे। जैसे संस्कार लेकर इस देह को छोड़कर जायेंगे उसके अनुसार ही हमारी अगले भव की सृष्टि बनेगी। समाधिमरण बहुत महत्त्व की चीज है। इसलिए हम आप सब यह भावना रखें कि हमारा समाधिपूर्वक मरण हो। गुरु के निकट, मुनिसमुदाय के निकट, जिन-बिम्ब के निकट और निष्कलंक, विमल, निर्दोष कल्याणकारक मंगलमय इन वचनों के बीच मेरा मरण हो

श्लोक 5

जन्मजन्मकृतं पापं जन्मकोटि समार्जितम्।

जन्ममृत्युजरामूलं हन्यते जिन-वन्दनात् ।।5।।

जिनवन्दन से जन्मजन्मकृत पाप का विघात- जिन स्वरूप की वन्दना करने से जन्म–जन्म में किए गए पाप, करोड़ों जन्मों में अर्जित पाप जो कि जन्म जरा मरण के कारणभूत हैं वे सब पाप नष्ट हो जाते हैं। जिन स्वरूप है निष्पाप। राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ ये पाप कहलाते हैं। इन पापों से रहित केवल ज्ञानमात्र स्वरूप है जिनका, परमात्मा, प्रभु का उस जिनस्वरूप का जो अभिनन्दन करता है उस जिनस्वरूप को जो अपने उपयोग में विराजमान करता है उस उपयोग युक्त जीव में नया पाप भी नहीं आता और जो जन्म-जन्म में उत्पन्न किए गए पाप थे वे भी नष्ट हो जाते हैं। प्रथम तो यह देखिये कि उपयोग में जब प्रभुस्वरूप समाया हुआ है तो उस समय में काम, क्रोध, मान, माया, लोभादिक विकार घर नहीं कर पाते। तो तत्काल भी देखिये पाप नष्ट हो गए और जन्म–जन्म में जो इन पाप परिणामों के कारण अशुभ कर्म बँधे थे वे कर्म भी निर्जरा को प्राप्त हो जाते हैं। यह बात निमित्तनैमित्तिक विधि पर बिलकुल सही उतरने वाली है। जब जीव कषाय करता है तब कर्म बँधते हैं। तो जब जीव कषाय न करे तो कर्म न बँधेंगे। कषाय अति मंद हो तो मंद कर्म बँधेंगे। तो जिन-वन्दना के समय में, प्रभुस्वरूप में अपना उपयोग लगाने के समय में विषय, कषाय, इच्छाओं का कहां अवकाश है? अथवा वह हो भी, तो है अव्यक्त, जब मंद उदय में हो तब नवीन कर्म भी मंद होंगे, न बँधेंगे और पूर्व में बँधे कर्म भी निर्जरा को प्राप्त होंगे।

जिनवन्दन से पापक्षय के कारण का मर्म- जैसे गीली धोती में रेत (धूल) लग गई हो तो रेत (धूल) तुरन्त भी लगी। कुछ देर बाद भी लगी, हवा चलती रही 15-20 मिनट तक धूल बराबर चिपटती रही, लेकिन जब धोती सूख गई तो जरा से झटके में ही सारी धूल झड़ जाती है। इसी प्रकार इस जीव में कषाय भाव के कारण जन्म-जन्म में पाप बँध रहे हैं, हजारों, लाखों, करोड़ों के पापकर्म अब भी इस जीव में पडे हुए हैं। वे सारे के सारे पापकर्म एक जिस काल में ज्ञानप्रकाश जग जाय और कषायों से भिन्न अविकार ज्ञानमात्र निज तत्त्व की दृष्टि रमे, ऐसे समय में करोड़ों जन्मों के भी पाप एक साथ क्षणभर में ही ध्वस्त हो जाते हैं। क्यों न खिरेंगे? निमित्तनैमित्तिक भाव है ऐसा। रसोई बनाने वाले को क्या कभी यह संदेह होता है कि कल तो रोटियां बन गयी थीं, अब भी बन सकेंगी या नहीं। सिगड़ी, आटा, कोयला, जल आदिक सभी सामग्रियां तैयार हैं फिर भी कोई सँदेह करे कि पता नहीं आज रोटियां बन पायगी या नहीं, ऐसा तो कोई नहीं करता। वह तो एक निमित्तनैमित्तिक भाव की बात है। तो ऐसे ही यह भी बिल्कुल निमित्तनैमित्तिक भाव की बात है, कषाय करेंगे तो कर्म बँधेंगे। कषायें न रहेंगी तो करोड़ों जन्मों के भी पापकर्म क्षणभर में खिर जायेंगे। तो जब निष्कषाय प्रभु के स्वरूप का ध्यान होता है, उपयोग में वह वीतराग सर्वज्ञ प्रभु समाया हुआ होता है तो वहां पापकर्म नहीं बँधते और इसी कारण करोड़ों जन्मों के भी पहिले के बँधे हुए पाप खिर जाते हैं।

सम्यग्ज्ञान की महिमा- सम्यग्ज्ञान की महिमा का तो कोई वर्णन कर ही नहीं सकता। जिन जीवों का संसार निकट है, जो भव्य जीव हैं, जिनका इस जन्म, जरा, मरण, शरीर इन सबसे छूटकारा मिलने का समय आया है। आयेगा चाहे करोड़ों वर्षों बाद, सागरों बाद, फिर भी वह निकट ही कहलाता है। अनन्तकाल के सामने लाखों सागर बाद भी अगर मोक्ष मिलने की बात होती है तो वह निकट ही कहलायेगा। जिनका मोक्ष निकट है ऐसे पुरूषों को ज्ञानप्रकाश पाने की प्रीति उत्पन्न होती है। सबसे बड़ी विपदा तो जीवों पर छायी है परपदार्थों के प्रति सही ज्ञान न होना और इसी कारण पर को अपना मानना और पर की वृद्धि में, तृप्ति में, उन्नति में अपने को अहोभाग्य समझना, पुण्य समझना मेरा बड़ा अच्छा पुण्य का उदय है। जो विचारते हैं तुरन्त काम होता है। अरे पुण्य का क्या उदय है, इससे क्या लाभ कि जो हम चाहें वह तुरन्त हो जाय? इससे आत्मा को क्या मिलेगा? इससे क्या लाभ जो बिना यत्न के ही खूब धन सम्पदा की प्राप्ति हो रही है। आखिर वे सब परपदार्थ हैं, परपदार्थ में जो दृष्टि है, आकर्षण है, लगाव है वह तो विपदा है, वह तो अज्ञान है। उस अज्ञान के रहते हुए तो हमें भलाई की कोई आशा नहीं। इस जगत में संख्या तो मिथ्यादृष्टियों की, मोहियों की, अज्ञानियों की ज्यादा है। ज्ञान की रूचि वाले, कल्याण की रूचि वाले पुरूष तो करोड़ों में से एक दो ही मिलेंगे। तब यह भी एक विपदा है कि उन्हीं करोड़ों में तो रहना है जो मिथ्यात्व के रूचिया हैं, अज्ञान से जिनका लगाव है, ऐसे पुरूषों के बीच रह रहे हैं, यह भी एक बड़ी विकट समस्या है कि उनकी देन से बचे रहें और अपने आपमें अपने को संभाल रखें, यह भी बहुत बड़ा कठिन काम है और उन लाखों के वैभवों को, आराम को मौज को देखकर अपने धार्मिक ध्यान से विचलित न होना, यह भी बहुत अधिक सा काम है, किन्तु जिसको अन्तस्तत्त्व स्पष्ट हो गया वे कभी मान ही नहीं सकते दूसरी बात।

अनुभूत ज्ञानस्वरूप के ज्ञान की अविस्मृतरूपता- -जैसे जिसने कोई चीज आँखों से देख ली है और उसे कोई मना करे कि यह नहीं है तो वह तो उसे मान ही नहीं सकता, क्योंकि उसको प्रत्यक्ष हुआ है कि मैंने आँखों देखी है। किसी बच्चे के काम की चीज हो और वह अपने पिता की जेब में उस चीज को देख ले तो चाहे वह पिता उसे कितना ही मान करे कि वह चीज नहीं है मेरी जेब में, पर वह बच्चा कैसे माने? क्योंकि उसने तो अपनी आँखों उस चीज को देख लिया। तो आँखों से भी जबरदस्त प्रमाण है स्वसम्वेदन का। आँखों देखी बात चाहे झूठ हो जाय, कानों सुनी बात चाहे झूठ हो जाय, पर स्वसम्वेदन में अनुभव में उतरी हुई बात झूठ नहीं हो सकती। वह प्रमाणभूत है। इन्द्रियज ज्ञानों से भी प्रबल प्रमाण है स्वसम्वेदन ज्ञान। तो जिस जीव को एक ज्ञानप्रकाश के और शान्ति के वातावरण में सहज ही समस्त परतत्त्वों से उपेक्षा हो जाने के कारण अपने आपमें सहज ज्ञानस्वरूप का ज्ञान में सम्वेदन हुआ है, अनुभव हुआ है। निर्विकल्प स्थिति से जिसका अनुभव किया है उस ज्ञानप्रकाश का अनुभव होने पर और उसके साथ ही साथ अलौकिक स्वाधीन अनुपम आनन्द प्राप्त करने पर फिर विश्व के मायामय वैभव अथवा कोई भी

सांसारिक बात फिसलाना चाहे तो फिसला नहीं सकता। इस ही जीव के यदि पापकर्म का उदय आये और ऐसा आवरण आये, ऐसा दर्शन मोह का ही उदय आ जाय कि जिसके अपने आपके सहज स्वरूप के संवेदन की स्मृति तक भी न रहे अर्थात् स्वयं ही मिथ्यात्वी अज्ञानी बने तो भले ही पर विषयों में हित मानने की बुद्धि कर लें, लेकिन यहां भी यह नियम है कि जिस जीव ने एक बार भी किसी भी समय निर्विकल्प अविकार ज्ञानज्योतिमात्र अन्तस्तत्त्व का अनुभव कर लिया है कर्मोदयवश चाहे वह अपने मार्ग से चाहे गिर भी जाय तो भी उसका उद्धार निश्चित है। फिर पायेगा ज्ञानप्रकाश।

शरणभूत ज्ञायकस्वरूप सहज अन्तस्तत्त्व का मंगलमय आग्रह- भैया ! समझ लीजिए- इस अनन्तकाल में इस विस्तृत लोक में हम आपको शरण केवल एक ज्ञान का अनुभव है, दूसरी कोई बात शरण नहीं है। जैसे कोई बालक कुछ चीज लेने पर रूठ जाय, हमको तो यह चीज इतनी लेनी है। अधिक लेनी है और माँ बाप न दें, तथा वह बच्चा भी उस चीज के लेने में बहुत हैरान हो जाय तो उस बच्चे की दृष्टि भी उस चीज के लेने से एक दम दूर हो जाती है। फिर उसके माँ बाप चाहे कितना ही समझायें पर वह उस चीज को लेना स्वीकार नहीं करता। तो इसी प्रकार यह जगत का वैभव है। जब इस वैभव की चाह है तब यह प्राप्त नहीं होता और जब इस वैभव की चाह न रही तब यह प्राप्त होता है। मिथ्यादृष्टियों को धन वैभव अधिक नहीं प्राप्त होता। सम्यग्दृष्टि, ज्ञानी, शुद्धतत्त्व के दार्शनिकों का ही ऐसा पुण्य का उदय होता है कि उन्हें सर्वोत्कृष्ट वैभव मिलता है। सो जब अज्ञानी थे, धन वैभव की खूब चाह कर रहे थे तब धन वैभव की प्राप्ति नहीं हो रही थी और जब ज्ञानप्रकाश जगा, धन वैभव की चाह न रही तो अटूट वैभव की प्राप्ति होती है। इन्द्र भी उनकी सेवा करते हैं तब फिर इस वैभव की चाह करने से लाभ क्या? सबसे महान पाप अज्ञान का है, मिथ्यात्व का है। मिथ्यात्व में तो पाप निरन्तर बँध ही रहे हैं कठिन से कठिन। चाहे वह नाम का ही धर्म कर रहे हों। चाहे गुरूजनों की सेवा में अपना तन, मन, धन, न्यौछावर कर रहे हों, सब कुछ कर रहे हों, पर यदि मिथ्यात्व है तो मिथ्यात्व के कारण रौद्रपाप का बंध निरन्तर हो रहा है। एक उस संधि की जगह पर शिथिल होने और दृढ़ होने भर का अन्तर है और ज्ञानी जीव जिसको ज्ञानप्रकाश जगा है, अविकार अन्तस्तत्त्व का अनुभव किया है वह कभी विनोद भी हो, बाह्य प्रसंग में भी हो, किसी भी स्थिति में हो उसके वे कर्म बँधते ही नहीं हैं। जो मिथ्यात्व में बँधा करते हैं। जो भी कर्म बँधते हैं वे भी शिथिल अनुभाग को लेकर बँधते हैं। यह सब है सहज ज्ञान ज्योतिमात्र अन्तस्तत्त्व के दर्शन का प्रताप।

निर्नाम सहज अन्तस्तत्त्व की प्रभुता- इसी सहज अन्तस्तत्त्व का नाम है प्रभु जिनेन्द्रदेव। नाम रखे बिना तो व्यवहार चलता नहीं, जिसका नाम न हो सके, जो निर्नाम है उसका भी नाम रखना ही पड़ेगा और उससे फिर संकेत लेकर लोगों की प्रवृत्ति होगी। इस मंगल लोकोत्तम शरणभूत अन्तस्तत्त्व का कोई नाम नहीं और नाम बिना कुछ बोला ही नहीं जा सकता। अन्तस्तत्त्व शब्द बोला वही एक नाम हो गया।

कुछ भी बोले वही एक नाम हो गया तो यह संकेत की चीज है। वस्तु का नाम नहीं है। पदार्थ का नाम नहीं है, इस बात को तो जरा दूर रहने दो। यहां ही जितने मनुष्य हैं इन मनुष्यों का कोई नाम नहीं है। हम आप जितने भी लोग यहां बैठे हुए हैं इनका किसी का भी कुछ नाम नहीं है। शरीर की ओर से, पदार्थों की ओर से कोई नाम बना हो तो बतलावो। लोगों ने कल्पना किया नाम धर दिया, सो नाम चल उठा। शरीर में रूप तो है, पर नाम नहीं है। किसी विदेशी व्यक्ति को आप यहाँ बुला लें और उससे यहाँ के किसी को दिखाकर उसका नाम पूछें तो वह उसका नाम बता सकता है क्या? नहीं बता सकता। वह तो शरीर के इस काले, पीले आदिक वर्ण को ही जान पायेगा पर उसका नाम नहीं बता सकता, क्योंकि उसका कुछ नाम है ही नहीं। गंध भी वह जान लेगा, क्योंकि शरीर में गंध है, पर नाम नहीं जान सकता। शरीर को निरखकर कोई किसी का नाम तो नहीं बता सकता, क्योंकि वस्तु का कुछ नाम ही नहीं है। नाम तो व्यवहार का काम चलाने के लिए रख लिया जाता है। तो यहां तो नाम लेकर लोग उसे बाँध देते हैं लेकिन जो सहज ज्ञानस्वरूप है, मंगल, लोकोत्तम शरणभूत अन्तस्तत्त्व है उसको बाँध भी नहीं सकते किसी नाम से; फिर भी बाँधना तो पड़ता ही है। तो यह अविकार सहज आत्मा अपने आपसे अपने आप ही सत्त्व के कारण जैसा स्वयं है वैसा ही रहे और बात संग में नहीं लिपटे, वह है प्रभु।

जिनवन्दन से पापक्षय एवं समाधिलाभ- प्रभु का नाम जिन इसलिए रख दिया कि वह आत्मा पहिले विषय कषायों में रत था और उसने विषय कषायों को जीता, दूर किया, रागद्वेष हटाया तो वह जिन कहलाया। जो विकारों को जीत ले दूर कर दे उसका नाम जिन है। वस्तुत: प्रभु का कोई नाम नहीं है। तो ऐसा जो अविकार ज्ञानानन्दस्वरूप है उस स्वरूप का वन्दना से, नमन से उपयोग में निरन्तर ध्याये जाने से करोड़ों जन्मों के भी पाप कट जाते हैं। जिन पापों का काम था इस जीव का जन्म जरा मरण बनाते रहना, तो इसका अर्थ है कि उस ज्ञानज्योति के अनुभव के प्रसाद से जन्म जरा मरण की परम्परा समाप्त हो जाती है। समाधिभक्ति में यह समाधिभक्त संत उस अन्तस्तत्त्व की भावना में लग रहा है कि जिसके प्रसाद से समताभाव, समाधिभाव जागृत होता है। यह अन्तरंग की बात है, दिखावट की बात नहीं है। जिसका होनहार भला है उसमें गुप्त ही गुप्त अन्दर में यह बात बन जाती है। प्रयत्न से न बने, सहज बने, फिर भी काम तो प्रयत्न करने का है। प्रयत्न करते हुए जब भी सहज बन सके बन जाय, किन्तु अपना तो पुरूषार्थ करने का काम है।

समाधिभाव के प्रयत्नों में शास्त्राभ्यास व प्रभुभक्ति का स्थान- समाधिलाभ का पुरूषार्थ यही है जैसा कि समाधिभक्ति के दूसरे छन्द में बतलाया था कि मुझे 7 बातें जन्म-जन्म में प्राप्त हों। वे 7 बातें क्या हैं? जो समाधिभाव के वास्तविक प्रयत्न हैं। उन 7 बातों की आज्ञा मानकर कोई अपना जीवन बिताये तो उसको नियम से कल्याण लाभ होगा। वे 7 बातें ये हैं शास्त्र का अभ्यास बनाना- कोई शास्त्र पढ़ता हो उसे सुनना, स्वयं बांचना सुनते सुनाते हुये में तत्त्व का गुनगुनाना, चित्त में रखे रहना, उस शास्त्र का जो

निचोड़ है, जो कुछ थोड़े से शब्दों में अपना निष्कर्ष निकला है उसको ध्यान में बनाये रखना, थोड़े से मंत्रजाप से या उस सार बात के वचन से चित्त उसी में रमाये रहना, यह बड़ी श्रद्धा का सूचक है। शरीर में निरन्तर संकट है। यहां शरण लेने योग्य कुछ भी पदार्थ नहीं है। इस भाव की सूचना मिलती है प्रभुभक्ति में। जो श्रावक प्रभुभक्ति करते आये हैं उनको निरख करके यही स्पष्ट ज्ञान होता है कि इनका कहीं मन नहीं लगा, पर की किसी चीज में, सो देखो घर छोड़कर ये मंदिर में आये और प्रभुस्तवन में लग गए। लगता तो ऐसा ही है, अब उनका दिल जाने कि वे क्या कर रहे हैं, पर जो लोग भी मंदिर में दर्शन करने के लिए आते हैं उनकी मुद्रा को देखकर, उनके गानतान को निरखकर तो ऐसा ही लगता है कि ये बड़े उज्जवल पुरूष हैं, इनका घर में कहीं मन नहीं लगा। इन्हें कोई शरण न जगा। सब उपद्रव जँचे, सारे संकट जँचे, सो उन संकटों को टाल करके और यहां प्रभु शरण में आये हैं और प्रभुभक्ति कर रहे हैं, तो जिनेन्द्रदेव के स्मरण से, प्रभुभजन से श्रद्धा की बात और भी बढ़ती जाती है।

समाधिभाव की पात्रता बनाये रहने के लिये सत्संग, गुणकथा, दोषमौन, सुवचन का स्थान- सदा सज्जन पुरूषों के साथ संगति रहना- वे बड़भागी पुरूष हैं जिनको उत्तम पुरूषों का संग मिलता रहता है। मंदिर में गए वहाँ उत्तम पुरूषों का संग, रास्ते में भी जहाँ कुछ खड़े होते हैं, कुछ बोलते चालते हैं वहां उत्तम संग, घर में गए, घर के लोग भी धार्मिक, तो वह भी उत्तम संग। जो जिस बात का अर्थी है उसको वह बात स्थान-स्थान पर भी मिल सकती है जो सत्संग का ही अभिलाषी है उसको थोडे-थोडे समय के बाद भी रोज-रोज अनेक सत्संग मिल सकते हैं। क्योंकि उसकी प्रवृत्ति ही इसी प्रकार की होगी और जो महाविषयकषायी है उसको सर्वत्र उस तरह के साधन मिलते हैं। मिलते क्या, वह उस तरह के साधन में रमता है। जिस संग में आत्मा को होश रहे, पापों से हट सके, साधुजनों की उपासना में चित्त लगे, वह संग उत्तम है, हितकारी है। अत: सत्संग का यत्न करना। बोले तो गुण की बात बोले, दोष में चुपचाप रहे, किसी का दोषवाद न करे। बोले तो प्रियहित वचन बोले। ये तो बाहरी पुरूषार्थ हैं और इन पुरूषार्थों के बीच अथवा बाद जब चाहें आत्मतत्त्व में भावना जागृत रखें।

समाधिभाव के लिये आत्मतत्त्वभावना का प्राधान्य- आत्मभावना की वृत्ति होगी तो फिर कल्याण कैसे न होगा? जो घोड़ा चल सकता है वह कुमार्ग में चल रहा हो तो उसको वश में करके सन्मार्ग पर भी तो लगाया जा सकता है और बच्चों के खेलने के लकड़ी के घोड़े जिनमें कोई चाल ही नहीं है उन्हें कैसे सन्मार्ग में लाया जा सकता है? कोई पुरूष कितनी भी गिरी हालत में आ गया हो, विषय कषाय मोह रागद्वेष जंजाल पाप के फंद में आ गया हो लेकिन उसमें चलने की ताकत है तो उसे वश करके सन्मार्ग में लगाया जा सकता है। कोई यह सोचे कि जिन्दगी भर तो हमने ज्ञानसाधना नहीं किया, इतनी जिन्दगी व्यतीत हो गयी, हम विधि सहित किसी धर्म के ढंग में नहीं चले तो अब बुढ़ापे में क्या चलेंगे, ऐसा ख्याल छोड़ देना चाहिए। बहुत दिनों तक सन्मार्ग में नहीं लग सके तो अब न लग सकेंगे यह भ्रम छोड़ दीजिए।

अगर यह नियम बनाते हैं कि बहुत दिन तक जो कुमार्ग में रहा उसका भला होना असम्भव है तो ऐसे तो सारे जीव हैं। अनादिकाल से अनन्तकाल तक कुमार्ग में लगे। 10-20-50 वर्ष की ही बात क्यों कहते? तो नहीं की आत्मतत्त्व की भावना, सारा समय गुजार दिया। गुजरने दो, शिथिल हो गए होने दो, शरीर से नहीं सोचना है आत्मतत्त्व की बात। सोचने वाला तो आत्मा है। वह सोचेगा आत्मतत्त्व की बात। वह ज्यों का त्यों है। शरीर बूढ़ा हो गया तो क्या हुआ? जानने के बाद जो भी करे उसकी मनाही न होगी, वह जान लेगा। तो सर्व कुछ करते हुए भी हमें आत्मतत्त्व में भावना बनानी है। ये सब बातें हमें प्राप्त हुई हैं, होंगी, हो रही हैं वीतराग सर्वज्ञदेव आप्त के स्त्रोत पाप से। वह है एक ज्ञानज्योति पुन्ज तो उस प्रभु का स्मरण गुणों का वंदन करने से उपाय भी बनता है और करोड़ों जन्म के उपार्जित किए हुए कर्म भी कट जाते हैं।

श्लोक 6

आवालाज्जिनदेवदेवं भवत: श्रीपादयो: सेवया ।

सेवासक्तविनेयकल्पल तया कालोद्ययावद्गत: ।।

त्वां तस्या: फलमर्थये तदधुना प्राणप्रयाणक्षणे ।

त्वन्नामप्रतिवद्धवर्णपठने कण्ठोऽस्त्वकुण्ठो मम।।6।।

प्रभुसेवा के अलौकिकफल की अभ्यर्थना- हे देवाधिदेव जिनेन्द्र ! अब तक बचपन से लेकर आपके चरणों की सेवा के द्वारा जो हमारा इतना समय गुजरा है अर्थात् जो आपकी सेवा की है ध्यान, स्मरण, भक्ति जिस किसी भी प्रकार उपासना की है उसके फल में लो आज मैं आपसे माँगता हूं। जो मांगता हूं सो सुनिये। यहां कुछ आसपास खड़े हुए सुनने वाले लोग सोचते होंगे कि क्या प्रभु रोज तकाजा कर रहे थे कि मांग लो मांग लो और हमने अभी तक नहीं मांगा और इसी कारण आज कह रहे हैं कि आज मांगता हूं। जैसे किसी को बहुत मनाया जा रहा हो कि तेरी बहुत ऊँची उपासना है। तुझसे मैं बहुत प्रसन्न हो गया हूं। हे भक्त ! तू कुछ तो मांग ले, मानो रोज-रोज भगवान मांगने को कह रहे हों और यह मना कर रहा हो। पर अब कह रहा है कि हे प्रभो ! आज मैं आपसे मांगता हूं। यद्यपि यह भक्त भगवान से इन शब्दों में कहकर तो नहीं मांगता होगा, मगर बात ऐसी ही है। प्रभु के निर्दोष, प्रभु के वीतराग ज्ञानपुंज की उपासना करने वाले पुरूष ने अभी तक प्रभु से कुछ न चाहा, पर आज वह भक्त कहता है कि हे प्रभो ! आज तक मैंने आपकी जो सेवा की उसके फल में अब मैं मांगता हूं। क्या फल मांगता हूं कि जब मेरे प्राण प्रयाण करें उस समय यह मेरा कंठ आपके नाम के दो अक्षर, जिन, अरहंत, प्रभु ज्ञानपुंज आदिक रूप से पढ़ने में रूद्ध न हो जाय। अर्थात् आपका नाम स्मरण करता हुआ यह मेरे प्राण प्रयाण करें, केवल यह मांगता हूं , और कुछ नहीं चाहता।

प्रभुभक्त के लौकिक लाभ की कल्पना का प्रभाव- इस भक्त ने और सब बातें ठीक-ठीक रूप में समझ रखी हैं। धन वैभव कितना ही जुड़ जाय, इसमें मेरे आत्मा को क्या मिलता है? यह मैं आत्मा अब भी देह से निराला समस्त प्रकट परपदार्थों से निराला केवल शुद्ध ज्ञानमात्र हूं। इनका अब भी सम्बंध नहीं है। इन परपदार्थों को कल्पना से हम अपना मान रहे कि ये मेरे हैं, बस बँध गए। इसलिए उन समस्त बाह्य पदार्थों को असार समझकर उनकी ओर कल्पना ही नहीं जगती इस भक्त की तो और क्या? परिजन प्रसंग, विषयसेवन अथवा प्रतिष्ठा लोकेषणा आदि किसी भी प्रकार के आत्मस्वभाव से विरूद्ध परिणमन हों, ये सब भी मेरे लिए सहाय न होंगे। ये भी सब विकार हैं। सहाय होने की बात दूर जाने दो, ये सब निरन्तर इस जीव की बरबादी के ही कारण बन रहे हैं, अन्यथा इस जीव को क्लेश क्या? किसी भी प्रकार की विपदा नहीं है इस जीव पर। तो सब वस्तुओं को असार जानकर किसी ओर भी कल्पना नहीं जगती।

प्रभुसेवा में आत्मसेवा का दर्शन- केवल एक यही इसमें अर्ज की है इस भक्त ने कि मेरे को तो प्राण प्रयाण के क्षणों में हे प्रभो, मेरा कंठ आपका नाम स्मरण करने में रूद्ध न हो जाय। हे प्रभो ! मैंने अब तक सेवा की। प्रभु सेवा के बहाने वस्तुत: अपनी ही सेवा की, क्योंकि प्रभु की क्या सेवा करना? जो शरीर है वह प्रभु नहीं और शरीर को कोई छू भी नहीं सकता, प्रभु होने पर इस तरह से प्रभु की कौन सेवा करे? जैसे कोई अकिन्चन महापुरूष हो निर्बन्धक, और जिसके द्वारा आप कुछ अपना अपकार करते हों तो भक्तजन या पुरूष कृतज्ञ होकर एक द्विविधा में पड़ जाते हैं कि मैं क्या सेवा करूँ? कुछ भी तो सेवा स्वीकार नहीं हो ही नहीं सकती। प्रभु की परम्परा से जो एक ज्ञानमार्ग अब तक आया, ऋषि संतों की परम्परा से जो अब तक भेदविज्ञान, ज्ञानस्वभाव के विशुद्धस्वरूप को जानने का मार्ग जो आज दृष्टि में आया है, यह जो उपकार हुआ है इस उपकार का बदला इस उपकार की एवज में प्रभु की अथवा ऋषि संतों की क्या सेवा की जा सकती है? सेवा एक यही मात्र है कि उनका एक ज्ञान पिण्ड में अविकार ज्ञायकस्वभाव की आराधना में हमारा उपयोग जमे, सब इतनी मात्र उनकी सेवा है, तो क्या यह उनकी सेवा है? यह खुद अपने आपकी सेवा है।

प्रभु की निरपेक्ष बन्धुता- प्रभु कितने निरपेक्ष बन्धु है? जैसे कि आचार्यजन कहते, कविजन कहते कि हे प्रभो ! आप निरपेक्ष बन्धु हैं। अन्य सब बन्धु सापेक्ष हैं किसी को कुछ इच्छा है, किसी का कैसा ही लगाव है। सबमें कोई ना कोई राग मौजूद है, पर प्रभु ही एक निरपेक्ष बन्धु हैं। वीतराग होकर भी जिनकी धुन (वाणी) हमारे उपकार के लिए निकली है, वे हमारे निरपेक्ष बन्धु हैं। उनकी वाणी से हम आपको जो लाभ मिल रहा है, क्या उन्होंने किसी प्राणी का लक्ष्य करके कोई अपेक्षा की थी? जैसे धनिक लोग इतनी अपेक्षा रखते हैं पदार्थों की कि ये पदार्थ हमको मिल जायें तो ये लोग हमारा ख्याल तो करेंगे, इस तरह की अपेक्षा ऋषि संतों ने नहीं रखी कि हमारे इन शास्त्रों को पढ़कर लोग हमारा ख्याल करेंगे, हमारा नाम

तो लेंगे। इस बात की तो कल्पना तक भी उन आचार्यजनों ने नहीं की थी। कल्पना उठ सकती थी तो उनकी इतनी मात्र कि ये संसार के जीव देखो व्यर्थ ही भ्रम में आकर अपने स्वरूप से च्युत होकर बाह्य पदार्थों की ओर लग रहे हैं। बात कुछ नहीं और बतंगड़ा बना रहे हैं, केवल एक दृष्टि भेद की बात है और इतनी बड़ी विडम्बनाओं की बना रहे हैं। यह दया तो आ सकती है अथवा यह भी दया न आयी हो, इस ओर भी विकल्प न उठा हो, एक निर्विकल्प अवस्था न रह सकी, सो विकल्प उठे, तो ज्ञानी होने के कारण इसी ढंग के विकल्प उठे कि उस ज्ञानपुंज की चर्चा करने में उसके कुछ लखने में अपना उपयोग लगायें। कैसे निरपेक्ष बन्धु हैं देव गुरु?

प्रभुसेवा और उसके अलौकिक फल की अभ्यर्थना- महापुरूषों की संतों की और प्रभु की क्या सेवा की जा सकती है? उस सेवा में भी अपनी सेवा स्वयं की जा रही है। जैसे कोई बच्चा बड़े उत्कर्ष को प्राप्त हो, अच्छे ढंग से रहे, कलावान बने, उन्नति करता है तो बाप खुश होता है। उस बाप की खुशी यह जाहिर करती है कि मानो इस बच्चे ने बाप की बड़ी सेवा की तो इस तरह से प्रभु अपने भक्त जनों पर खुश होने का भाव तो नहीं रखते' मगर उनका जो परम उपदेश है, उनकी परम्परा की वाणी से जब हम अनेक पुत्रों ने लाभ उठाया तो हम उत्कर्ष को प्राप्त हुए, इसमें प्रभु भी प्रसन्न हैं। वे प्रभु प्रसन्न हैं, निर्मल हैं और अपना आत्मप्रभु भी प्रसन्न है, निर्मल है। ऐसी सेवा कि जो सेवा में लीन हुए शिष्यों की कल्पलता के समान हो। जो इस प्रभुता की सेवा करेगा कल्पलता की तरह बिना परिश्रम के, बिना अभ्यास के जीव को मनोवान्छित समस्त तत्त्व मिलेंगे। ऐसी इस सेवा के फल में मैं आपसे कुछ मांगता हूं तो यही मांगता हूं कि आपके नाम के दो शब्द हैं वे मेरे कंठ से निकलें तो उस समय मेरा कंठ न रूंधे।

श्लोक 7

तव पादौ मम ह्दये मम ह्रदयं तव पदद्वये लीनम्।

तिष्ठतु जिनेन्द्र तावद्यावन्निर्वाण सम्प्राप्ति:।।7।।

नि:संकट ज्ञानपिण्ड की शरण्यता- हे जिनेन्द्र देव ! जब तक मुझे निर्वाण की प्राप्ति न हो तब तक आपके चरणद्वय मेरे ह्रदय में विराजें और मेरा मन आपके चरणद्वय में लीन रहे। जब हम किसी को अपने ज्ञान में लें, उपयोग में रखें, इसके सिवाय कुछ कर ही नहीं सकते हैं तब यह विवेक रखना बहुत आवश्यक है कि हम किसको उपयोग में लें तो हमारे संकट दूर हो सकते है? लोक में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जिसको उपयोग में लेने से हमारे संकट टल सके। हमारे संकट तो खुद के संकट सहित ज्ञान स्वभाव के ज्ञान से ही टल सकते हैं। कारण यह है कि संकट तो कुछ हैं ही नहीं, केवल पर के सम्बंध में जो विकल्प बनायें जा रहे हैं वही मात्र संकट हैं और उन ही विकल्पों रूप कार्य करके हम दु:खी रहा करते हैं। तो पर के सम्बंध में जो हम अनेक प्रकार के विकल्प बनाया करते हैं उन विकल्पों को हटाना है

अपने संकट दूर करने के लिए। ये विकल्प तब तक नहीं हट सकते जब तक विकल्परहित केवल ज्ञानज्योतिस्वरूप तत्त्व को उपयोग में न ले पायें। यह बात शत प्रतिशत यथार्थ है।

यथासंभव धर्मपालन में अभी से ही लगने की आवश्यकता- भैया ! बाह्य दृष्टि करके एक तो काम नहीं बनता। कोई सोचे कि चलो अभी बाह्य दृष्टि कर लें, पर में रम लें, खूब राग कर लें, खूब मोह कर लें थोड़े दिनों के बाद में इन सब बाह्य प्रसंगों को छोड़कर केवल धर्मकार्य में जुट जायेंगे, तो ऐसा सोचना गलत है। इस कारण किसी भी स्थिति में हों चाहे बड़ा वैभव कमा लिया हो, चाहे कोई बड़ा ऊँचा काम कर लिया हो दुकान का अथवा किसी काम काज का और जहाँ ऐसा लगता है कि हम फंसे हुये हैं, ये काम निपटें तो हम निपट सकते हैं। चाहे कैसी भी स्थितियाँ हों, सर्व स्थितियों में मोह का तुरन्त त्याग करना ही भला है अन्यथा ऐसी स्थिति कभी न मिल सकेगी कि जहाँ हम आराम से रहकर उन सब अधर्म के, पाप के, मोह के कार्यों को त्याग दें और अपने आपके स्वरूप में रम सकें। यह स्थिति पर की ओर से हम सुविधा चाह करके प्राप्त करना चाहे तो यह बिलकुल असम्भव है। इसी कारण जो लोग यह सोचते हैं कि हमको दो चार वर्ष की और देर है घर गृहस्थी के झंझटों से छूटने में, उसके बाद तो फिर धर्म कार्यों में ही पूरे तौर से लगेंगे ऐसा उनका सोचना केवल स्वप्न भर रह जाता है, अत: कर्तव्य यह है कि धर्म की अपार रूचि हुई है तो आज जो स्थिति है और सुविधा है उसके अनुकूल अभी से ही करने लगें और अगर अभी से नहीं करते हैं तो समझिये कि सही मायने में अभी धर्म की धुन नहीं हुई है। अरे आगे ज्यादा धर्म कर लिया जायेगा, यह तो ठीक है पर अभी भी तो जैसी स्थिति है उसके अनुकूल धर्म करते रहना चाहिये। ऐसा तो किसी से किया नहीं जाता और खूब धर्म आगे करूँगा ऐसी दृष्टि रखकर जीवन के अमूल्य क्षण व्यर्थ ही व्यतीत किए जायें और आगे के स्वप्न देखे जायें, यह तो कोई भली बात नहीं है।

वीतराग सर्वज्ञदेव की उपासनीयता- इस लोक में सिवाय एक अपने आत्मा की दृष्टि करने के अन्य कोई शरण नहीं है। हाँ प्रभु जिनेन्द्र देव, वीतराग, सर्वज्ञ ज्ञानपुंज की उपासना हमें इस कारण करनी चाहिये कि चूँकि प्रभु का स्वरूप, मेरा स्वरूप और प्राणी मात्र का स्वरूप सबका एक समान है, लेकिन प्रभु में वह स्वरूप व्यक्त रूप से प्रकट हो चुका है और उन्हें अनन्त आनन्द की प्राप्ति हो गई है उन प्रभु के स्वरूप का स्मरण करने से अपने आपमें अपने स्वरूप के स्मरण से बल ही मिलता है, इस कारण मेरा मेरे सिवाय यदि कोई स्मरण के लायक है, पूज्य है तो वह है एक वीतराग सर्वज्ञदेव। सो हे नाथ ! जब तक मुझे निर्विकल्प समाधि नहीं प्राप्त हुई है तब तक आपके चरणकमल मेरे हृदय में बसे रहें और निरन्तर आपका स्मरण रहे। आपके स्वरूप का स्मरण रहेगा तो हमारी रक्षा है। उसी से हमारे दु:ख दूर होंगे।

अन्त: परमस्वास्थ्य की भावना- हे प्रभो ! ऐसी अवस्था हो, ऐसी निवृत्ति हो, ऐसा संग समागम हो कि जिससे वीतराग सर्वज्ञदेव के उस शुद्धस्वरूप का ध्यान रहे जिसमें रागद्वेष नहीं। भैया ! विकाररहित जो

ज्ञायकस्वरूप है, अपना सहजस्वरूप है उस पर दृष्टि जाय तो वह ज्ञान उस समय वीतराग है। होंगे राग, पर जैसे सिनेमा के पर्दे पर चित्र आ जाते हैं फिर भी वह पर्दा (सूतपुन्ज) अपने आपमें उसी रूप है इसी प्रकार जब उपयोग रागद्वेष रहित ज्ञानस्वरूप पर पहुंचता है उस समय इस ज्ञानस्वभाव को जानने वाला ज्ञान, इसका उपयोग, वह भी वीतराग है। होंगे रागादिक विकार, पर यह उपयोग उनका ग्रहण नहीं कर रहा। उपयोग तो अपने ज्ञानस्वरूप का ग्रहण कर रहा है। रागद्वेष रहित है, ऐसा ज्ञानस्वरूप यदि अपने उपयोग में रहे तो फिर वहां कोई संकट नहीं और उसे भूलकर अगर उपयोग पर की ओर लग जाता है तो फिर सारे संकट आ जाते हैं। जिन योगी पुरूषों ने, बड़े तीर्थंकर चक्रवर्तियों ने सब कुछ बाह्य चीजें त्यागीं, नौकर, चाकर, भोजन, वस्त्रादिक कुछ भी उनके पास न थे, फिर भी वे अपने सहज ज्ञायकस्वरूप में ऐसे लीन हो गए कि जहां ध्यान ध्याता ध्येय का कुछ भी अन्तर नहीं है, ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय का भी भेद नहीं है। कौन जान रहा, किसे जान रहा, किसके द्वारा जान रहा, इनमें कोई भेद न रहा, केवल एक पवित्र अनुभूति स्थिति रह गई। यह एक ज्ञानस्वभाव अपनी सहज परिणति रूप हो जाता है, इससे उनके रातदिन ऐसे गुजरते हैं, ऐसे कटते हैं कि उन्हें कुछ पता ही नहीं रहता। यहाँ के लोग तो बाट देखते हैं कि अभी तो बड़ी रात है अथवा बड़ा दिन है, लेकिन अपने आपके सहजस्वरूप का लगाव, अपने सहज शुद्ध ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि ऐसा पवित्र काम है कि इस काम में न तो दिन मालूम पड़ता है और न रात मालूम पड़ती है। समय यों ही गुजर जाता है। जैसे स्वर्गवासी देवताओं का सागरों का समय यों ही गुजर जाता है। उन्हें यह ध्यान नहीं रह पाता कि यह सारा समय कैसे गुजर गया? उनका तो जीवन गुजरता है राग और विषय साधनों के प्रेम में और इन योगी संन्यासियों का इतना लम्बा समय गुजर जाता है अपने आपके शुद्धस्वभाव की उपासना में।

भैया ! करने योग्य काम तो एक यही है कि आत्मतत्त्व का परिज्ञान करें और उसमें तृप्त रहें। न करते बने तो इतनी श्रद्धा तो होनी ही चाहिये कि करने योग्य काम तो एक यही है। लोक में दूसरा कार्य इस जीव के हित के लिए कोई नहीं पडा़ हुआ है। श्रद्धा और प्रतीति भी यदि पूरे तौर से नहीं बन रही है तो जानकारी के बल पर उसकी चर्चा करें, उसकी जिज्ञासा बनायें। कुछ थोड़ा बहुत तो समझ में आता ही है कि ऐसी जब मात्र जानन की परिणति होती है तो जीव को कोई संकट नहीं आता। बाह्य पदार्थों का संयोग क्षणमात्र का है। एक दिन का भी भरोसा नहीं है, ऐसे विनाशीक क्षणिक बाह्य पदार्थों में स्नेह करने से, मोह बुद्धि से इस कुदृष्टि का, अज्ञान का ऐसा सिलसिला चल उठेगा कि फिर हम अपने आत्मस्वरूप की चर्चा के लायक भी न रह सकेंगे। इस कारण यह बड़ी संभाल वाली स्थिति है। हम उस ज्ञानस्वरूप की चर्चा करें, उस ज्ञानस्वरूप को चर्चा में अपनी प्रतीति बनायें। इस ज्ञानस्वरूप की चर्चा प्रीतिपूर्वक कोई सुने तो वह नियम से भव्य है। ऐसा आचार्यों का बड़े घोष के साथ कथन है। इस चर्चा के माध्यम से अपने आपके भीतर अंतरंग में इस ज्ञानस्वरूप के दर्शन का प्रयास जो करता है वह नियम से भव्य है। कर्मोदय

भव-भव में आ रहे हैं और उन कर्मोदयों का उचित परिणमन चल रहा है, कैसी-कैसी भावनायें बदलती हैं, किस-किस तरह से पर की ओर हमारा ख्याल बढ़ता है, ये सारी बातें होकर भी घबराहट नहीं है, क्योंकि जान लिया है कि मेरे आत्मा का ज्ञानरूस्वरूप सहज शुद्ध है और वही मात्र और आखिर वही प्रकट हो करके रहेगा। ये बाहरी कलंक, बाहरी दृष्टियां, बाहरी बन्धन कर्म और शरीर का संयोग ये कब तक परेशान करेंगे? ये तो पर चीजें हैं। पर हैं इसलिए ये नियम से छूटकर रहेंगे, ऐसी भीतर में ज्ञान की भावना है और अपने आपको बड़ी दृढ़ श्रद्धा से यों तक रहा है कि मैं तो केवल ज्ञानस्वरूप हूं। विकारों से न्यारा, कर्मों से न्यारा, शरीर से न्यारा, बाह्य समस्त समागमों से न्यारा अमूर्त केवल ज्ञानस्वरूप मैं हूं। इस और जिसका लगाव लग गया और 'यही मैं हूं' ऐसा मानकर रह गया उसको संसार के संकट फिर नहीं सता सकते। तो यही स्वरूप है प्रभु का, इसलिए प्रभु से अभ्यर्थना की जा रही है कि हे प्रभो ! जब तक मेरी निर्विकल्प स्थिति न बने, जब तक मोक्ष की प्राप्ति न हो तब तक आपके दोनों चरण मेरे हृदय में रहें। मेरा हृदय आपके चरणों में रहें। यहाँ चरणों से मतलब औपाधिक शरीर के उस अंग पर न ले जायें और हृदय से मतलब द्रव्य, मन, शरीर रचना, इस पर न ले जायें, किन्तु दो चरण क्या है प्रभु के? प्रभु के वे दो चरण हैं ज्ञान और दर्शन। उन चरणों का तो मेरे ज्ञान में निवास रहे। हृदय का मतलब ज्ञान का है। चूँकि रूचिपूर्वक मुझे उन चरणों को अपने ज्ञान में रखना है इस कारण हृदय कह करके वर्णन किया है। क्योंकि लोकप्रसिद्धि यह है कि हृदय का सम्बंध है प्रेम से और दिमाग का सम्बंध है ज्ञान से। तो रूचिपूर्वक प्रभु के दोनों चरण मेरे ज्ञान में रहें, इस स्थिति के लायक ही तो मैं हूं इसलिए यही चाह सकता हूं। तो उस ज्ञान से हृदय की यहां उपमा दी है और चरणद्वय की उपमा इस ज्ञानदर्शन से दी है। हे ज्ञानपूंज प्रभु ! आपका सहज ज्ञान, सहज दर्शन मेरे उपयोग में निवास करे और मेरा उपयोग आपके सहज ज्ञान और सहज दर्शन में बना रहे, यही मात्र मैं चाहता हूं और कुछ मेरी वान्छा नहीं है।

श्लोक 8

एकापि समर्थेयं जिनभक्तिर्दुर्गतिं निवार्रायतुम्।

पुण्यानि च पूरयितुं दातुं मुक्तिश्रियं कृतिन: ।।8।।

दुर्गतिनिवारण पुण्यपूरण व मुक्तिश्रीदान में जिनभक्ति का सामर्थ्य- यह एक जिनभक्ति दुर्गति का निवारण करने के लिए समर्थ है, पुण्य को पूरने के लिए समर्थ है और जीवों को मुक्तिश्री देने के लिए समर्थ है। जिनभक्ति में जिनेन्द्र के स्वरूप को निहारकर स्वरूप का अनुराग किया जाता है और वह स्वरूप है वीतरागता। रागद्वेष रहित केवल ज्ञानज्योतिस्वरूप उस चैतन्य महाप्रभु की उपासना में इसका उपयोग उपयोग के स्रोतभूत् ज्ञानस्वभाव की उपासना कराता है। इस कारण उसमें ये सब सामर्थ्य है और

जिनभक्ति में वैराग्य का भी समावेश है, अनुराग का भी समावेश है, इस कारण उसमें इन तीन बातों की कारणता पायी जाती है।

नारकियों की गति का दुर्गतिपना- जिन-भक्ति दुर्गति का निवारण करने में समर्थ है। दुर्गतियां हैं- नरकगति, तिर्यञ्चगति और खोटा मनुष्य होना। (यह पुण्य पाप के हिसाब से बात कही जा रही है) वैसे तो चारों गतियाँ दुर्गतियां हैं। गतियां जीव के स्वरूप की बात नहीं हैं, जहां पुण्य का उदय नहीं आता, पाप का उदय विशेष रहता है ऐसी बातें हैं नरकगति में। नरकगति में पूरा ही पाप का उदय है। जहाँ नय विभाग से नरक का वर्णन किया गया है धवल ग्रंथ में वहाँ दृष्टियों की अपेक्षा से जो नरक में उत्पन्न हों वे तो नारकी स्पष्ट हैं किन्तु नरकगति के योग्य भावों को कर रहे मनुष्य भी नारकी हैं और लोकव्यवहार में भी इसी नय के अवलम्बन से ऐसा कहते हैं कि मनुष्य है कि नारकी। जो लड़ता विशेष हो, क्रोधी हो, प्रचंड हो, बैर को न छोड़े, किसी की भलाई न सोचे, सबको बुरा ही सोचा करे, ऐसे मनुष्य को नारकी कहते हैं। तो नरकगति के भावों से भी नारकी संज्ञा दी गई है तो फिर उस भाव का फल जहां प्राप्त होता है उस नरकगति की दुर्दशा का कौन वर्णन कर सकता है?

नरकगति के प्रकृति दु:ख- नरकगति की पृथ्वी को छूने से ही ऐसा कठिन दु:ख होता है जो हजारों बिच्छुओं के काटने पर भी नहीं होता। यह बात गलत नहीं है किन्तु अनुमान प्रमाण से भी सिद्ध है। जब कभी यहाँ बिजली का करंट भींत में आ जाता है तो उसमें कोई हाथ लगाये तो बिच्छू के काटने जैसी पीड़ा होती है तो यह बिजली क्या है, पृथ्वी क्या है? यह स्थावर काय ही तो है। और स्थावर काय वहाँ पाये जाते हैं यहाँ लोग बिजली बनाकर तैयार करते हैं, पर कहीं बिना तैयार किए भी ऐसी बिजली हो सकती है कि नहीं? हो सकती है। तो इस तरह की बिजली जैसे स्कंध वहाँ पडे हुए हैं जिस कारण जमीन के छूने से इतना क्लेश होता है कि हजारों बिच्छुओं के काटने से भी उतना दु:ख नहीं होता। नारकियों का वैक्रियक शरीर होता है, शरीर की उत्पत्ति माता-पिता से नहीं होती है। वैक्रियक शरीर तो ऐसा होता है कि जिसमें हाड़-मांस, मज्जा नहीं। लेकिन इतना असुहावना, खोटा, वैक्रियक शरीर उन नारकियों का है कि जिसका कुछ कहना नहीं बनता, जिनकी उत्पत्ति भी बड़ी कठोर है। जहाँ से वे नारकी गिरते हैं। जमीन में जो एक पोल है, कई जगह, लाखों जगह पोल है उन नरकों की जमीन में। और वह पोल है करोड़ों कोशों की लम्बी चौड़ी। कई पोल तो अनगिनते कोशों के लम्बे चौड़े हैं। तो ऊपर से वे नारकी गिरते हैं तो नीचे सिर और ऊपर पैर होते हैं। तो जिनका उत्पत्ति स्थान ही बड़ा बेढंगा बना हुआ है, जहाँ प्रारम्भ से ही पाप पिशाचिनी का आतंक छाया हुआ है वहाँ पर वह वैक्रियक शरीर गिरता है और जमीन पर गिरते ही गेंद की तरह उछलता है।

नरकों में दु:खहेतु कुकृत्य की याद- नरकों में याद आती है कि जिस कुटुम्ब के कारण अनेक पाप किए, जिन थोड़ी वासनाओं के वशीभूत होकर अनेक पाप किए उनका फल यहाँ इतना कठोर भोगना

पड़ता है। यह ख्याल भी ऐसे नारकियों को आता है जिनका भवितव्य अच्छा है। सभी नारकियों को इस तरह का ख्याल नहीं आता। उनका उपयोग तो इस ओर जायेगा कि इसने पूर्व जन्म में मेरे साथ यों बरताव किया। मनुष्य भव में चाहे मां ने अपने बच्चे की आँखों में अन्जन लगाया हो, पर नरकों में जब वे दोनों जीव होंगे तो उस बच्चे का जीव ऐसा ही ख्याल बनायेगा कि इसने सलाई से मेरी आँखें फोड़ी थीं। इस प्रकार का बैर विरोध का भाव करके एक नारकी जीव दूसरे नारकी जीव पर इस तरह से टूट पड़ता है कि तिल तिल बराबर देह के खण्ड कर डालता है। इस तरह की दुर्गतियाँ सहनी पड़ती हैं नरकों में।

नारकियों का विक्रिया सम्बन्धित दु:ख- उन नारकियों में ऐसी विक्रिया ऋद्धि होती है कि वे जब किसी दूसरे नारकी को मारने के लिए हाथ उठायेंगे तो उनके वे हाथ ही तलवार, कुल्हाड़ी आदि बन जाते हैं। उनको अलग से शस्त्र नहीं लेने पड़ते। इतने पर भी जब उनका मन न भरा तो वे विक्रिया से, सिंह, सर्प आदि हिंसक पशु बनकर उस जीव को डसकर, खाकर बड़ी बुरी तरह से वेदनायें देते हैं। किसी नारकी को कोल्हू से पेलना है तो वे स्वयं ही कोल्हू का रूप रख लेते और उस दूसरे नारकी को कोल्हू में पेल देते। इसी तरह से अग्नि आदिक बनकर दूसरे नारकियों को उस अग्नि आदिक में पटककर दु:खी किया करते हैं और यह बात किसी समय हो जाय सो नहीं कि चलो दिन भर में किसी समय कोई नारकी ने दु:खी कर दिया तो चलो बाकी समय तो उस दु:ख से बचे। यह बात तो वहाँ निरन्तर चलती रहती है। उन नारकियों में कोई ऐसी गोष्ठी तो है नहीं कि चलो, यह तो हमारा मित्र है इसे अब पीड़ा न दो। वे तो सब एक दूसरे के दुश्मन हैं, इसी कारण वहाँ क्षण भर भी साता नहीं है। यह तो उनका दु:ख है।

असुरजाति के देवों द्वारा नारकियों के क्रोध उभारने का दु:ख- उक्त वेदनाओं के अतिरिक्त साथ ही यह भी दु:ख लगा है कि उनका क्रोध क्षण भर को भी शान्त नहीं होता। जैसे यहां किसी को क्रोध आता है तो उसका कुछ समय बाद क्रोध शान्त हो जाता है, लेकिन वहाँ असुर जाति के नारकी तीसरे नरक तक जाते हैं और उन नारकियों को ऐसी याद दिलाते हैं कि क्रोध शान्त होता हो तो शान्त न होने दे। खुद लड़ बैठते हैं। उन असुर जाति के देवों का उदय पुण्य का है विशेषतया कि वे नरक में रहकर भी वहाँ की भूमि से दु:ख नहीं पाते, जैसे कि अन्य नारकी हजार बिच्छूवों के डसने से भी अधिक दु:ख पाते हैं। जैसे यहां कोई काठ पर खड़ा होकर बिजली फैली हुई भींत को छुवे तो उसे करेन्ट नहीं लगता, इसी तरह से उन असुर जाति के देवों को वहां की भूमि से वेदना नहीं मिलती। उनकी विक्रिया में दूसरी तरह की योग्यता है।

नरकों में भूख प्यास की कठिन वेदना- और भी देखिये- उन नरकों में इतनी तेज गर्मी पड़ती है कि वहां मेरू बराबर लोहपिण्ड भी हो तो वह गल जायेगा और नीचे के नरकों में इतनी ठंड पड़ती है कि मेरू बराबर लोहा हो तो वह भी छार छार हो जायेगा। गर्मी से भी अधिक दु:ख होता है ठंड के दिनों में। जब तेज ठंड पड़ती है तब याद आता है इस मनुष्य को कि इससे तो गर्मी भली है और जब गर्मी आती है

तब यह कहते हैं कि इससे तो ठंड अच्छी है। यह तो इस जीव की पर्याय बुद्धि की बात है। जिस दु:ख में यह जीव पहुंचता है वही इसे सहन नहीं होता। जैसे किसी मनुष्य को खूब खांसी आती है तो यह हैरान होकर कह उठता है कि इस खांसी से तो यों बुखार भला है। बुखार आने पर भला एक जगह तो पडे रहते हैं। तो पर्याय बुद्धि होने के कारण इस जीव पर जब जो बात आती है उससे ही वह बड़ी विपदा का अनुभव करता है। कोई मनुष्य बड़े आराम में है, खूब अच्छी आमदनी भी है, किसी प्रकार का दु:ख नहीं है लेकिन किसी-किसी समय वह दु:खी होकर कह बैठता है कि इससे तो गरीबी अच्छी है। मैं तो इस धन से परेशान हो गया और गरीबों की बात सुनो तो गरीब तो रात दिन सोचा करते हैं कि हमारे कितना पाप का उदय है कि बड़ी कठिनाई से हमारी जिन्दगी गुजरती है। उन गरीबों को ये दिखने वाले धनिक लोग बड़े साफ सुथरे दिखाई देते हैं बड़े खुश दिखाई देते हैं लेकिन वे धनिक लोग कितनी-कितनी परेशानियों में हैं इसे बेचारे गरीब लोग क्या समझें? तो पर्याय बुद्धि में जीव जहाँ जाता है। जिस स्थिति में रहता है उसमें अपने को वह बड़ा दु:खी अनुभव करता है। क्या यह पाप का उदय नहीं हैं? तो सभी दु:ख पापोदय से होते हैं। नरकों में उष्ण और शान्त की भी कठिन बाधा रहती है।

ज्ञानभाव की दृष्टि न होने का कुफल- ज्ञानभाव की दृष्टि न हो सकना यह महापाप का उदय है। शान्ति मिलती है जीव को तो एक ज्ञानभाव की दृष्टि में मिलती है और कितने ही उपाय कर लिए जायें, पर उनसे शान्ति नहीं मिलती। इस अन्तस्तत्त्व की उपासना न होने से नरकों में उत्पन्न होकर दु:सह दु:ख भोगने पड़ते हैं। तो नरकों में कितनी कठिन दुर्गति है? वहां की लड़ाई का दु:ख, वहां की जमीन का दु:ख, वहां के वातावरण का दु:ख, उनके स्वयं के वैक्रियक शरीर का दु:ख। उन नारकियों का अत्यन्त खोटा वैक्रियक शरीर है। वहां पर रात दिन तो हैं ही नहीं। स्वर्गों में भी रात दिन नहीं, ढाई द्वीप के बाहर भी रात दिन नहीं, बाहर जहां सूर्य है केवल ढाई द्वीप के अन्दर ही जहां चन्द्र सूर्य प्रदक्षिणा देते हैं वहां रात दिन का व्यवहार है। वहां कल्पवृक्ष की सदा ज्योति बनी रहती है।

नरकों में भूख प्यास का महाक्लेश- नरकों में भूख प्यास की बड़ी तीव्र वेदनायें हैं। उन नारकियों को भूख इतनी लगती है कि दुनिया का सारा अनाज खा लें फिर भी भूख न जाय, और प्यास इतनी होती है कि दुनिया के सारे समुद्रों का जल पी लें तो भी प्यास न बुझे, पर वहां पानी की एक बूँद भी नहीं मिलती। भूख और प्यास इन दोनों के दु:खों में इतना अन्तर है कि भूख तो दो तरह की होती है तीव्र और मंद और प्यास होती है चार प्रकार की मंद, मंदतर, तीव्र और तीव्रतर। इससे ही यह अंदाज लगा लें कि प्यास की वेदना भूख की वेदना से कठिन होती है। जो लोग कभी भूख से ही मर जाते हैं, जिन गरीबों को कुछ नहीं मिलता है, भूखे ही बने रहते हैं, तो लोग तो यह कहते हैं कि यह भूख से मरा, पर यह तो बताओ कि उस भूखे रहने वाले में क्या प्यास बिलकुल नहीं है? अरे भूख से अधिक वहां प्यास है। किसी को भूख लगी हो तो उस भूख को वह 6 घंटे तक बरदास्त कर सकता है, 12 घंटे तक भी

बरदास्त कर सकता है, पर खूब तेज प्यास लगी हो तो वह एक घंटा भी उस प्यास की वेदना को सहन नहीं कर सकता। भूख का दु:ख मंदतर कभी नहीं होता है और प्यास का दु:ख मंदतर भी हो जाता है। रंचमात्र भी प्यास लगी हो तो यह जीव झट महसूस कर लेता कि मुझे प्यास लगी है, मगर रंचमात्र भूख हो तो वह महसूस नहीं होती। तो इस प्रकार की भूख प्यास की बड़ी कठिन वेदनायें उन नारकियों में निरन्तर रहती हैं। यह उनके शरीर का दु:ख है।

दु:सह दु:खों के भी निवारण में जिनभक्ति का सामर्थ्य- कठिन से भी कठिन दु:ख जहाँ पाये जाते हैं उनके निवारण करने में हे प्रभो ! आपकी भक्ति समर्थ है। प्रभुभक्ति से तुरन्त भी मिलता है कुछ और पर लोक के लिए तो सारा लाभ ही लाभ है। कुटुम्बीजनों की भक्ति से, मित्रजनों की भक्ति से, उनके प्रेम से, उनके अनुराग से तो लाभ कुछ भी नहीं मिलता, बल्कि वेदना तुरन्त मिल जाती है और आगे के लिए पाप बंध हो जाता है जिसके फल में परभव में भी वेदनायें प्राप्त होंगी। अब आप यह देख लीजिए कि हमारा प्रभुभक्ति में कितना समय जाता है और परिजन, मित्रजनों की भक्ति में कितना समय जाता है? प्रभुभक्ति केवल मंदिर की चीज नहीं है। प्रभुभक्ति तो किसी भी जगह कर ली जाय। जहां भी अरहंत सिद्ध का ध्यान हो, जहां भी सकल परमात्मा, निकल परमात्मा का ध्यान जगे वहीं प्रभुदर्शन होंगे। जहां प्रभुस्वरूप का और आत्मस्वरूप का दर्शन हुआ, भक्ति हुई, झलक हुई, वहीं प्रभुभक्ति है।

स्व का ज्ञान करने के उत्सुक जीवों को आत्मज्ञान के लाभ की अवश्यंभाविता- प्रभुभक्ति क्या हर जगह की नहीं जा सकती। ज्ञान ही तो है। जब ज्ञान परवस्तुओं के जानने में लगा है तो परवस्तुओं को क्या यह जान नहीं पाता? खूब जान रहा है। आँखें खोली तो बैन्च, खम्बा, चौकी आदि सब कुछ दिख गए और उनकी जानकारी हो गई। ज्ञान इन वस्तुओं के अभिमुख हो तो उन वस्तुओं को जानकारी में आना पड़ेगा। प्रत्येक पदार्थ में 5 साधारण गुण जरूर हैं जैसे अस्तित्त्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, अगुरूलघुत्व, प्रदेशवत्त्व; इसी प्रकार साधारण गुण प्रमेयत्व भी तो उसमें नियमित है। तो ज्ञान जिस किसी भी पदार्थ के अभिमुख हो उस पदार्थ को ज्ञेय होना ही पड़ता है और इस ज्ञान में वह चीज आनी ही पड़ती है। उस समय ज्ञान भी मना नहीं कर सकता कि मुझमें यह चीज मत आये। ज्ञेय भी मना नहीं कर सकता कि मैं इस ज्ञान में न आऊँ। हम आप कोई भी जीव संज्ञी पन्चेन्द्रिय इस ज्ञानस्वभाव अन्तस्तत्त्व के अभिमुख हो तो जानना पड़ेगा और उसे जानने में आना पड़ेगा। लेकिन हमीं इतने प्रमादी बने हुए हैं कि प्रभुभक्ति में लगना नहीं चाहते। अगर लगना चाहें और उसका स्वरूप जानना चाहें तो हमारी प्रभुभक्ति ज्ञानस्वरूप, ये सब हो ही जायेंगे। तो जिसको इतना भी डर हो कि बाहरी पदार्थों में किसी में भी दृष्टि लगाये, उपयोग फसाये तो उसमें सिवाय कर्मबन्धन के और तात्कालिक आकुलता के उसके पल्ले कुछ नहीं पड़ता है। इतना जिसे विश्वास हो, ऐसा पुरूष जब चाहे प्रभुभक्ति में अपना उपयोग लगा सकता है। तो उस प्रभुभक्ति में ऐसी सामर्थ्य है कि ऐसी नरकादि दुर्गतियों का निवारण कर दे।

तिर्यन्चगति के दु:ख- नरकगति के वर्णन के बाद अब तिर्यन्च गति के दु:ख देखिये। सभी लोग जानते हैं स्थावरों का दु:ख, उनके हाथ पैर नहीं हैं, वे किसी तरह से अपने दु:ख का संकेत जाहिर नहीं कर सकते कि मुझे मत छेड़ों, मत तोड़ो। छोटे-छोटे कीड़े मकोड़ों को कोई जरा भी छू ले तो वे तिलमिला जाते हैं, मानो उस तिलमिलाहट में वे यह संकेत कर रहे हैं कि तुम जैसे प्राणी हम भी हैं हमें मत छेड़ों। वे बेचारे संकेत कर सकने में असमर्थ हैं। स्थावर जीवों में देखो- कोई जब भी चाहे फल, फूल, डाली आदिक तोड़ ले, जब चाहे कोई उन्हें नौचनाच कर फैंक दे, चाहे अग्नि में जला दे, चाहे कुछ भी कर दे, पर वे स्थावर ऐसे निश्चेष्ट हैं कि कुछ भी संकेत नहीं कर सकते। जो सैनी पन्चेन्द्रिय हैं वे भी कितने पराधीन हैं। झोंटे को किसी खूँटे में बाँध दिया, अब मालिक की मर्जी है कि वह उस झोंटे को धूप से बचा दे। बड़ी तेज धूप पड़ रही है, वह झोंटा तड़प रहा है, प्यास की वेदना से भी पीड़ित हो रहा है, फिर भी उस झोंटे को पूछने वाला कोई नहीं है। इतना बलवान जीव की 50-60 मन का बोझा ढो दे, मनुष्यों में आज इतना बल कहां रखा है, लेकिन वह जीव एक जरा सी नकेल में जरा सी डोरी के बन्धन में इतना परतंत्र है वह कि कुछ कर नहीं सकता। यह मनुष्य ऐसे बन्धन में पड़ जाय तो वह क्या किसमिसायेगा नहीं? जरूर किसमिसायेगा तो क्या वह झोंटा उस समय किसमिसाता न होगा? क्या वह अपने मालिक पर क्रुद्ध न होता होगा? जरूर क्रुद्ध होता होगा। ऐसी हालत में कदाचित् मालिक आये और उस झोंटे का बन्धन टूट जाय, उसका क्रोध न उतरे तो वह अपने मालिक को उसी जगह मार डाल सकता है। मगर एक जरा सी दो आने की रस्सी में ऐसा परतंत्र पडा़ हुआ है कि उसके दु:ख को कौन कह सके?

तिर्यन्चगति के क्रुरतापूर्ण बधसम्बन्धी दु:ख- उक्त प्रकार तिर्यन्च गति में साधारण स्थिति के दु:ख बताये। अब बधबन्धन के दु:ख देखिये- इतना तेज गरम जल जिसको मनुष्यजन सह नहीं सकते ऐसे खौलते हुए पानी को फव्वारों से उन गाय, बछड़ों पर डालते हैं ताकि उनकी चमड़ी फूल जाय और फिर बेंतों से मारते हैं और मार मारकर चमड़ी उतारते हैं ताकि वह चमड़ी नरम बनी रहे और अधिक कीमत की बिके। तो ऐसे कठिन दु:ख उन पशुवों को सहन करने पड़ते हैं। कोई विवेकी पुरूष हो तो इन घटनाओं को जानकर यह निर्णय कर लेगा कि मुझे चमड़े का रंचमात्र भी किसी काम के लिए प्रयोग नहीं करना है। रहा अब मरे हुए पशुवों का चमड़ा, जो स्वयं मर गए हैं, जिन्हें कसायियों ने नहीं मारा है। उनका भी प्रयोग हम इसलिए न करें कि वे फाल्तू बने रहेंगे तो दूसरे लोग उनका प्रयोग करेंगे, मारे जाने वाले पशुवों के चमड़े का प्रयोग कम हो जायेगा। लोग इन स्वयं मृतक पशुवों के चमड़े का प्रयोग कर लेंगे, मृतक चमड़े के जूते रहेंगे तो वे फाल्तू हो जायेंगे, सस्ते रहने के कारण लोग उनका अधिक प्रयोग कर लेंगे ,तो बुरी तरह से मारे हुए पशुवों के चमड़े का प्रयोग कम हो जायेगा। किसी भी तरह हो, विवेकी पुरूष चमड़े का प्रयोग रंचमात्र भी न करेंगे। तो तिर्यन्चों के इस तरह के दु:ख हैं।

कुमानुष के दु:ख और दु:खनिवृत्ति पूण्यपूर्ति व मुक्ति के दान में जिनभक्ति की समर्थता- खोंटे मनुष्यों के दु:ख देखिये- कोढ़ी, लंगड़े, लूले, अनेक प्रकार के रोगों से ग्रस्त, नीच कुलीन, महा झगड़ेलू, एक दूसरे की जान लेने को तैयार रहने वाले, आदि इस प्रकार के जो मनुष्य हैं वे क्या दुर्गति में नहीं हैं? वे तो नाम के लिए मनुष्य हैं। ऐसे ऐसे कठिन दुर्गतियों का निवारण करने के लिए हे प्रभो ! आपकी एक यह भक्ति समर्थ है और पुण्य को पूरने के लिए हे जिनेन्द्रदेव ! आपकी भक्ति समर्थ है। तो इस लोक में जिनभक्ति से पुण्यरस बढ़ा, दुर्गति कटी, पर साथ ही साथ यह भी समझिये कि जिनभक्ति में एक अविकार ज्ञानस्वरूप की ही तो भक्ति की जा रही है। ज्ञानस्वरूप पर जो दृष्टि की गई है और उससे केवल एक सहजज्ञान उपयोग उपयोग में रह गया है, उस समय ज्ञान ने ज्ञान को स्वीकार किया, ज्ञान ज्ञान में लीन हुआ, तो इस स्थिति में निर्जरा भी होती है और कर्म की निर्जरा होना यह मोक्ष का मार्ग है। संवर भी होता है तो मोक्षलक्ष्मी को प्राप्त कराने में कुछ कारण हुई कि नहीं यह जिनभक्ति? एक ही जिनभक्ति दुर्गति का निवारण करने के लिए समर्थ है पुण्य से पूरित करने के लिए समर्थ है और इन भव्य जीवों की मुक्ति लक्ष्मी को भी देने में समर्थ है। समाधिभक्त संत निर्विकल्प समाधि की भक्ति में अधिक समय लगाते हैं और जब कर्म विपाकवश उस समाधिभक्ति में उपयोग नहीं जम रहा तो उस समाधिभक्ति के लिए ही प्रभुभक्ति कर रहे हैं और प्रभुभक्ति के गुण गा रहे हैं कि एक इस प्रभुभक्ति में तीन महात्म्य हैं एक तो- दुर्गति का निवारण करना, दूसरा पुण्य को पूरना और तीसरा मुक्तिश्री का देना।

श्लोक 9

पंच अरिंजय णाये पंच य मदिसायरे जिणे वंदे।

पंच जसोयरणामे पंच य सीमंदरे वंदे।।9।।

समाधिभक्त का रत्नत्रयधर्मवन्दन- समाधिभक्त पुरूष समाधि का अभेदभावरूप अथवा समाधिभावना कारणभूत जो रत्नत्रय है उसको दृष्टि में लेकर कह रहा है कि मैं रत्नत्रय को नमस्कार करता हूं। रत्नत्रय का अर्थ है- तीन श्रेष्ठ तत्त्व। रत्न का नाम पत्थर मणि आदिक नहीं है, किन्तु जो जिस जाति में श्रेष्ठ है वह उसमें रत्न कहलाता है। जहां नररत्न कहा तो उसका अर्थ है मनुष्यों में श्रेष्ठ ! जहां मणिरत्न कहा तो उसका अर्थ होता है मणियों में श्रेष्ठ, जहां धर्म रत्न कहा उसका अर्थ होता है श्रेष्ठ धर्म। तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप जो श्रेष्ठ धर्म है उसको मैं नमस्कार करता हूं। धर्म कहते हैं उसे जो जीवों को संसार के दु:खों से छुटाकर उत्तमसुख में धारण कराये। ऐसा कौनसा तत्त्व है जो जीव को संकटों से छुटाकर उत्तम सुख में धारण करा दे। अभेदभाव से देखो तो जीव में है एक ज्ञानभाव और ज्ञान का ही नाम है सम्यग्दर्शन; ज्ञान ही का नाम है सम्यग्ज्ञान और ज्ञान ही का नाम है सम्यक्चारित्र। जब यह ज्ञान जीवादिक 7 तत्त्वों के श्रद्धान स्वभाव रूप से बर्तता है तो उसे कहते हैं सम्यग्ज्ञान। जब यह ज्ञान

जीवादिक तत्त्वों के जाननरूप में बर्तता हैं तब उसे कहते हैं सम्यग्ज्ञान। जब उसका ज्ञान स्वरूप से अर्थात् रागादिक विकार के परिहार के स्वभाव से बर्तता है जब उसे कहते हैं सम्यक्चारित्र तो ऐसा यह धर्म एक अपने ज्ञान पर निर्भर है ऐसे ज्ञानस्वरूप रत्नत्रय धर्म को वह वन्दना करता है।

निज की ज्ञानमात्र सर्वस्वता का अवलोकन- इस ज्ञान द्वारा ही हम सब कुछ अनुभवते हैं, संसार में रूलकर इतने संकटों को सहते हैं। उसमें भी यह ज्ञान अपनी कला कर रहा है। संसार संकटों से छूट कर मुक्ति सुख में पहुंचता है तो वहाँ भी यह ज्ञान अपनी कला कर रहा है। ज्ञान के सिवाय मेरा और कुछ धन नहीं और कुछ स्वरूप नहीं। यह मैं अकिन्चन हूं, ज्ञानमात्र हूं, इस प्रकार की निगाह में हमारा सब कल्याण भरा हुआ है। संसार के संकटों से छूटने के लिए क्या प्रयत्न करना है? वह प्रयत्न यही करना है कि अपने आपको अकिन्चन, ज्ञानमात्र अनुभव कर लें। मुक्ति जब मिलेगी तब, लेकिन इसी भव में आप स्व को अकिन्चन ज्ञानमात्र अनुभव कर लेंगे तो आप ऐसा अनुभवेंगे अपने को कि लो मैं संकटों से अभी छूट गया। कहाँ हैं संकट? जब अपने आपको अकिन्चन निरखा, मेरा कुछ नहीं। मेरे में अन्य कुछ नहीं; मैं जो इस देहदेवालय में अमूर्त चैतन्यस्वरूप विराजमान हूं वह तो चैतन्यमात्र है। उसका लोक में क्या है? है ना यह आत्मा अकिन्चन। भ्रम लगा लें और जितना चाहे कीचड़ अपने स्वरूप में लपेट लें, यह एक मोहियों की बात है। परतत्त्वों के लपेटने पर भी बाह्य पदार्थों से, परतत्त्वों से फिर भी यह जीव स्वरूप न्यारा है। मैं ज्ञानमात्र अकिन्चन हूं। एक परमाणुमात्र भी तो मेरा यहाँ कुछ नहीं है। खूब निरख लो, अपने आपमें जितना अपना स्वरूप है उस स्वरूप पर दृष्टि देकर खूब परख लीजिये कि मेरा मेरे ज्ञानमात्र के सिवाय अन्य कुछ भी स्वरूप है क्या? देह भी मैं नहीं। अन्य की तो बात जाने दो।

जीवविभाव और देह का निमित्तनैमित्तिक भाव होने पर भी दोनों का स्वातंत्र्य व परस्पर अनाधिकार- जब तक देह साथ है तब तक भी जो हम चाहें सो देह की बात बने, यह नहीं हो पाता। यह जीव क्या चाहता है कि मेरा शरीर निरोग रहे, किन्तु देह में रोग आ ही जाते हैं। निमित्तनैमित्तिकभाव देह और जीव के बीच है, फिर भी अधिकार रंच नहीं। साथ यह भी निरखते जाइये कि जो यह देह रोगी बनता है वह भी जीव की गलती से बनता है। और यह भी निरखते जाइये कि इस देह पर जीव का कुछ अधिकार नहीं है, आपको उपादानदृष्टि और निमित्तदृष्टि दोनों ही निगरानी में आते जायेंगे। जीव गलती करता है, जो स्वाद जंचा, राग जंचा, उसके भक्षण में लालायित रहता है और जहां रसना इन्द्रिय का स्वाद नहीं जीता जा सकता तो साथ ही साथ अन्य विकल्प भी चलते हैं, तो जब यह जीव अपनी जिव्हा को न जीत सका, एकाशन न करे, कभी उपवास न करे तो उसके प्राय: रोग आ जाते हैं। अधिकतर आपके शरीर के रोग, यद्यपि शरीर परद्रव्य है फिर भी, आपके बल पर कुछ निर्भर है। रोग आता है तो आप उसे तीन चार दिन में भी दूर कर सकते हैं, नहीं तो महीनों भी गुजर सकते हैं। जब देह काम नहीं दे रहा है तो उस समय इस बिगड़े देह को 1-2 दिन के लिए भोजन पान की छुट्टी कर देनी चाहिए। बहुत कुछ निर्भर

यद्यपि जीव के भाव पर है निमित्तनैमित्तिक दृष्टि से, लेकिन कभी कर्म का तीव्र उदय आ जाय तो जीव का भाव कुछ नहीं कर सकता। कितना ही संयम से हों, सब कुछ छोड़ भी दिया है, लेकिन जब कर्मों का तीव्र उदय आता है तो बड़े-बड़े महापुरूषों को कुष्ठ हो जाय, भस्मव्याधि हो जाय, अनेक तरह के रोग आ सकते हैं। तो देखिये जीव का इस देह पर अधिकार नहीं। जब पुण्य का उदय है, पाप का उदय कम है, भले ही जीव के भावों के अनुसार इस जीव की गति हो रही है तब भी शरीर पर जीव का अधिकार नहीं और कभी भी शरीर पर जीव का अधिकार नहीं। मेल हो गया, योग बन गया, तो जब हमारा देह तक पर भी अधिकार नहीं, फिर प्रकट पर क्षेत्रस्थ पदार्थों की कथा ही क्या है? देखो देह पर अधिकार होता तो बुढ़ापा आने पर अथवा किसी रोग से पीड़ित होकर मरण होते समय मरण से बचा लिया जाता, किन्तु ऐसा कहां किया जा सकता है? मृत्यु तो होती ही है। देह को छोड़कर जाना पड़ता है। अब निरख लीजिये कि देह मेरा कुछ नहीं है, जैसे दूसरे जीव के शरीर मेरे कुछ नहीं लगते इसी तरह मेरा भी यह शरीर मेरा कुछ नहीं लगता। मैं इस देह से अत्यन्त निराला ज्ञानस्वरूप हूं। यह तो मेरे अकिन्चन की स्थिति है।

अपने विकारपरिणमन से भी आत्मा का पार्थक्य- भैया ! देह की भी बात क्या कहें? जो भाव मुझमें उत्पन्न होते हैं- रागद्वेष, क्रोध, मान, माया लोभ आदिक, ये भाव भी मेरे नहीं हैं। इस पर भी मेरा वश नहीं चल रहा है। हमारा वश तो इतना ही चल सकता है कि इनको उपयोग में न लें। उपयोग में न रखने से इन निमित्तनैमित्तिक भावों के प्रसंग में ये कषायें ये विकार अत्यन्त शिथिल होंगे, मंद होंगे और कुछ समय बाद ये अपने आप ही मिट जायेंगे। ये सब बातें इसकी हो जायेंगी, लेकिन इन पर भी मेरा अधिकार नहीं। मेरा अधिकार केवल मेरे ज्ञानभाव पर है। तो मैं अकिन्चन हूं और ज्ञानमात्र हूं। मैं अपने आपमें अपने को तकता हूं तो ज्ञान के सिवाय मुझमें और कुछ नजर नहीं आता।

सुख दु:ख की स्थितियों में ज्ञानभाव का परिणमन- कभी सुख भोगते हों तो क्या हो रहा है अन्य? ज्ञान ही उस प्रकार से अपने जानन का काम कर रहा है। हमें वहां ज्ञान ही ज्ञान नजर आ रहा, सुख तो नजर आता ही नहीं। सुख नाम रख दिया गया है ज्ञान की इस परिणति का नाम कि जहां ज्ञान ऐसा अनुभव करे कि इस प्रकार से जानन चलाये जैसा कि माने गए सुख में हुआ करता है। हमको तो ज्ञान ही ज्ञान नजर आ रहा है, दु:ख भी कहां है? ज्ञान ही उस रूप में बर्तता है। जिसमें यह जीव आकुलित हो जाता है। हम किसी पर पदार्थ से स्नेह लगाकर, किसी इष्ट के वियोग में किसी अन्य अनिष्ट के संयोग में जो कुछ इसके अन्तर उत्सुकता जगती है उसके साथ जो ज्ञान की गति चलती है ज्ञान उस स्वरूप को जान रहा है, वही दु:ख का अनुभव है। सो दु:ख भी क्या है? ज्ञान की एक इस किस्म की परिणति हो रही, बस यही दु:ख दिख रहा है। सुख दु:ख की भी बात आप जाने दो। जो आत्मा के लिए हितकर भाव हैं उनमें भी हमें ज्ञान ही ज्ञान दिख रहा है, अन्य कुछ दिख ही नहीं रहा है।

रत्नत्रयधर्म में ज्ञानभाव का परिणमन- कहते हैं कि सम्यग्दर्शन है। जीव में सम्यक्त्व गुण है। तत्त्व का यथार्थ विश्वास करना सम्यग्दर्शन है। मगर तत्त्व का यथार्थ विश्वास क्या ज्ञान से बाहर है? क्या ज्ञान का कोई इससे अलग परिणमन है? ज्ञान का ही विश्वास रूप से इस प्रकार का परिणम जाना बड़ी दृढ़ता के साथ यह ऐसा ही है, ऐसे दृढ़ निर्णय के साथ जो ज्ञान की जानकारी चलती है वही तो सम्यग्दर्शन है। सम्यग्ज्ञान- बस ज्ञान की अन्य विशेषतायें न निरखकर केवल एक जानन का ही स्वरूप दिखे उस निगाह से यह सम्यग्ज्ञान दिखता है। यही ज्ञान जब स्थिरता से यों ही ज्ञानरूप बर्तता है और ऐसा इसका स्वभाव है कि इस ज्ञान को केवल ज्ञानरूप से बर्तना चाहिए और उस प्रकार के बर्तने में बात यह स्पष्ट हुई जहां कि रागादिक विकार के त्याग रूप से वह बर्तता है, वही सम्यक्चारित्र है।

ज्ञान का अविकार स्वरूप- ज्ञान में कहां है रागादिक? ज्ञान का स्वरूप क्या है? जानन। उस ज्ञान के स्वरूप में रागादिक विकार हैं कहां? मेरा सहज स्वरूप मेरे ही सत्त्व के कारण मेरे में अपने आप जो कुछ स्वरूप बर्त रहा है उस स्वरूप में राग हैं कहा? जो सत्य है, ईमानदारी का स्वरूप है। अपने आप मिला हुआ स्वरूप है, सहजस्वरूप है, उसका ही स्वभाव है। उसको निरखिये। उसमें रागादिक विकार नहीं हैं। जैसे कि सिनेमा का पर्दा जो स्वयं अपने आप है उसको निरखिये, दिन में देखिये, जब फिल्म न चलाई जा रही हो जब देखिये वहां क्या नजर आता है? केवल वही पर्दे का स्वरूप। केवल वहीं स्वच्छ सफेद अपने सूतों में अपने आपमें जिस रूप में रह रहा है वैसा और जब दिन या रात में फिल्म अक्स डाला जाता है उस समय किस तरह पर्दा दिख रहा है। वहां सफेदी का नाम नहीं नजर आता। मत आये, लेकिन जिसे उसका मर्म विदित है उसकी प्रतीति में अब भी है कि पर्दा जैसा स्वयं अपने आपको लिए हुए है सो यह है। ये चित्र, ये रंग इस पर्दे में नहीं हैं। लेकिन फिल्म हटी तो वे सब समाप्त हो गए। दर्पण में स्वच्छता जिसने खूब परख ली है, परखना भी बहुत टेढ़ी खीर है, आप जब दर्पण को देखेंगे कि यह स्वच्छ है कि नहीं तो आपका फोटो उस दर्पण में आ जायेगा, अगल बगल से, तिरछे रूप से या किसी भी ढंग से तिरछा रखकर उस दर्पण को देख ले तो वह दर्पण बिलकुल स्वच्छ है। उसमें कोई विकार नहीं, प्रतिबिम्ब नहीं, अक्स नहीं ऐसा समझने वाले पुरूष जब कभी भी दर्पण को प्रतिबिम्ब वाला देखते हैं तो भी समझ लेते हैं कि यह प्रतिबिम्ब, यह अक्स इस दर्पण का नहीं है, दर्पण तो बिलकुल साफ स्वच्छ है। यों ही किसी प्रकार से अपने आपके विशुद्ध ज्ञानस्वभाव का तो कोई अनुभव तो कर ले, वह प्रतीति कर लेगा कि यह मैं ज्ञानमात्र सहज अविकार हूं।

निज सहजस्वरूप के अनुभव के लिये आकिन्चन्यप्रतीति का महान् पुरूषार्थ- निज सहज स्वभाव के अनुभव के लिए बहुत बलिदान करना होता है, धर्म यों ही नहीं मिल जाता है। अपने आपको अकिन्चन समझना यह बहुत बड़ा बलिदान कहलाता है। यही बड़ा त्याग कहलाता है कि यह जीव अपने को अकिन्चन तो निरख ले। अकिन्चन जानकर जब मेरा मेरे ज्ञानस्वभाव के सिवाय अन्य कुछ है ही नहीं,

ऐसा क्यों नहीं मान लिया जाता? मगर यह बात विश्वास में नहीं है, आपके निर्णय में नहीं है, तो धर्म के लिए बहुत-बहुत प्रयत्न करने पर भी न तृप्ति मिलती है, न संतोष होता है। धर्म के नाना प्रयत्न करने वाले सज्जन अन्य अन्य बातों को गौण करके एक संकल्प इसी का बना लें कि मुझे तो यह समझकर रहना है कि मैं अकिन्चन हूं और अगर अकिन्चन नहीं हूं तो मुझे वह भी समझकर रहना है। इसके बारे में हमें सत्य निर्णय चाहिए कि मैं अकिन्चन हूं। मेरा मेरे स्वरूप के सिवाय अन्य कुछ नहीं है और यदि अकिन्चन नहीं हूं, सकिन्चन हूं, है मेरी बाहर की कुछ चीज तो मैं वही मानकर रह जाऊँगा। जैसा भी मैं सहज हूं उसमें नियम से शान्ति मिलेगी। मैं सकिन्चन हूं यदि यह बात सही है तो परद्रव्यों के लगाव में मुझे अवश्य ही शान्ति मिलेगी और यदि मैं अकिन्चन हूं, मेरा कहीं कुछ नहीं है यह बात यथार्थ है तो अकिन्चन मानने में ही मुझे शान्ति मिलेगी। मेरा जो स्वरूप है उस ही में मुझे शान्ति मिल सकती है। किसी भी पदार्थ का स्वरूप उस स्वरूप के बिगाड़ के लिए नहीं होता, यह नियम है। आत्मा का स्वरूप सकिन्चन नहीं अकिन्चन है यह स्पष्ट है। मेरा स्वरूप अकिन्चन है ऐसा निर्णय तो कर लूँ फिर मुझे कुछ डर नहीं। मैं अन्य रूप तो हूं नहीं, फिर अन्य के उन्मुख न होकर स्व के उन्मुख रहूंगा और शान्ति पाऊँगा। मेरा अकिन्चन स्वरूप है, मेरा मैं अकिन्चन बनकर रहूंगा तब शान्ति पाऊँगा। तो अपने को यह निर्णय करना है कि मैं अकिन्चन हूं।

आकिन्चन्य भाव के अवसर से लाभ उठाने का अनुरोध- यदि कोई पुरूष कुछ भी विवेक रखकर इस निर्णय के लिए चलेगा तो उसे तुरन्त ही यह आसार नजर आयेंगे कि मेरा कुछ नहीं है। बहुत सी बातें यों अकिन्चनता के लिए दृष्टिगत होंगी कि यह जीवन में ऊब गया ना। जिस जिसको हमने माना कि यह मेरा है और जिस जिसने बड़ी प्रीति दिखाकर आपको विश्वास पैदा कर दिया कि सचमुच ये मेरे ही तो हैं। अनेक बार उनके कर्तव्यों से, उनकी उपेक्षा से, उनकी अपनी प्रवृत्तियों से आपको अनेक बार ऊब आती रही है, इससे भी माना जा सकता है कि मेरा कहीं कुछ नहीं है। और जब प्रकट दिखता है कि लोग ये सब बवंडर समागम छोड़कर चले जाते हैं, मर जाते हैं, उनका यहां कुछ नहीं रहता है, न जाने यहां से मरकर कहां किस पर्याय में उत्पन्न होते हैं और वहां क्या बीतती है? उनका फिर यहां कुछ रहा क्या? रंच मात्र भी कुछ न रहा। कल्पना से भी कुछ नहीं है। तो जब इससे भी स्पष्ट नजर आता है कि मेरा कहीं कुछ नहीं है और यह देह तक भी मेरा कुछ नहीं है।

कषायों से निज का अन्यत्व- जब और अन्दर विवेक करने चलते हैं तो यह भी परख में बात आ जाती है कि जो कुछ मैं सोचता हूं वह भी नहीं रह पाता है, वह मिट जाता है। जो कषाय करता हूं वह कषाय भी नहीं रह पाती, मिट जाती है। भले ही अन्य कषायें आती रहती हैं, और यही परेशानी है इस जीव को। जो वर्तमान में कषाय है वह खूब हो ले, डटकर हो ले, जितना उसमें बल हो, तीव्र से तीव्र हो ले, हो तो ले, मगर फिर कषाय न जगे तो इन कषायों का भी मुझे डर नहीं। हो ले जितना तेज होना

हो, किन्तु परेशानी तो यह है कि यह कषायें मिटती हैं और नवीन कषायें आती हैं। तो यहाँ यह देखिये कि दु:ख तो एक कषाय से है और आगे कषाय उत्पन्न होगी, उससे किसी को प्रेम नहीं है। भले ही यह जीव जब किसी परवस्तु के बारे में चाह करता है और वह चीज आज है नहीं, होगी फिर भी उस चीज से वह लगाव रखता है। यहां तो यह बात कुछ बन जाती है, मगर अपने आपमें जो कषायभाव जग रहा है उसमें यह बात नहीं बनती कि कल जो मेरी कषाय बनेगी उसमें मेरा प्रीतिभाव हो अथवा लगाव हो। चार दिन बाद जो चीज मिल सकेगी, जिसका हम अभी से विचार कर रहे हैं तो बाह्य में तो यह कह सकते है कि चार दिन बाद होने वाली चीज में इसका लगाव हो रहा है, मगर चार दिन बाद होने वाली चीज में जो इसका बलिदान बन रहा है वह तो वर्तमान पर्याय है, वह वर्तमान कषाय है। कषायों में इसका वर्तमान कषाय में ही लगाव है। भविष्य की कषाय में इसका लगाव नहीं हो सकता। जैसे चार दिन बाद होने वाली बात में यह कब मिले, ऐसा लगाव है, क्या इस प्रकार चार दिन बाद, दो दिन बाद, एक मिनट बाद जो कषाय होगी उस कषाय के प्रति भी किसी का ऐसा लगाव है कि जो दो मिनट बाद कषाय जगेगी वह कब आये मेरे लिए? उस कषाय के प्रति किसी का लगाव नहीं है। तब आप समझिये कि झंझट इसमें अनेक नहीं हैं, एक है और हम ऊब जाते हैं कि मुझको तो अनेक झंझट लगे हुए हैं। क्या करें? इन सब झंझटों से हम कैसे छूट पायें? अरे भाई झंझट कहाँ अनेक लगे हैं? वर्तमान समय में एक क्षण को भी अपने विकार अनुभव में नहीं ले पाते, जितने क्षणों में यह उपयोग कषायों का अनुभव कर पाता है उसको क्षण मानकर सोचिये। एक क्षण में जो कषाय उपजी है उस कषाय में मेरा लगाव है, बस यही एक झंझट है। कुछ अपना ज्ञानबल बढायें और उस एक क्षण होने वाली कषाय वृत्ति में अपना लगाव न रखें, लगाव खींच लें, ये अनित्य हैं, असाधारण हैं, अपवित्र हैं, आकुलता के स्वभाव वाले हैं। ऐसा जानकर उस कषाय परिणमन से अपना लगाव हटा लें, एक इस झंझट से अपना लगाव दूर कर लें। फिर देखिये संकट मिटते कि नहीं। तो अपने आपको अकिन्चन निरखकर समस्त परतत्त्वों से उपेक्षा करें कि मुझमें ये कोई तत्त्व नहीं हैं। उन परतत्त्वों से उपेक्षाभाव करके एक सत्य विश्राम लेते हुए अपने आपमें ही एक सामान्य उपयोग बनाकर निरखें। स्वयं ही ऐसी निरख बनेगी, वहां ज्ञान का साधारण रूप अनुभव में आयेगा। उस समय आप समझ जायेंगे कि मैं ज्ञानमात्र हूं।

धर्मपालन के अर्थ एकमात्र कर्तव्य- अपने को अकिन्चन समझना, ज्ञानमात्र निरखना, बस यही काम करना है धर्मपालन के लिए। जिसने अनेक वर्ष धर्म करते-करते बीता डाले और इतने पर भी कभी भी मुक्ति के आनन्द की रंच मात्र भी झलक नहीं आ पाती। सिद्ध के क्या आनन्द हैं, उस आनन्द का अनुमान करने लायक भी अपने आपमें आनन्द की झाँकी नहीं आ पाती है। तो समझिये कि हमने धर्म नहीं किया। धर्म किया हो तो सिद्ध प्रभु के जो आनन्द बर्त रहा है उस आनन्द का हमें यहां अनुमान बन सकता है। यह है शुद्ध आत्मा का आनन्द। तब क्या करना? बहुत समय लगाया। रोज-रोज घंटों का समय लगाया

और सालभर में कभी-कभी कई कई दिन धर्म में लगाये, बड़ा श्रम किया, धन भी खूब खर्च किया, शरीर का भी संग दिया। मन भी बहुत लगाया, उपवास भी अनेक कर करके एक शरीर को निर्मल भी किया, लेकिन धर्म की जो निशानी है कि एक सिद्ध भगवान की जाति के आनन्द का लेश झलक हो जाय, वह निशानी न हम अपने आपमें तक सके, तो मालूम होता कि हमने धर्मपालन नहीं कर पाया। धर्म के बिना यह जीव पार न हो सकेगा, संसार की मुसीबतों से यह छूट नहीं सकेगा। इसलिए धर्म करना तो अति आवश्यक है। इतना अति आवश्यक है कि धर्म के मुकाबले में न रोजगार आवश्यक है, न अपनी कोई बाहरी व्यवस्थायें बनाना इतना आवश्यक हैं, न दुकान, मकान आदिक का सजाना उतना आवश्यक है, न ऐसा भोजनपान करना उतना आवश्यक है। आत्मा को आवश्यक है धर्म का पालन। धर्मपालन न करे आत्मा तो इस भव में भी बरबाद ही रहेगा और आगे भी जन्म मरण की परम्परा बढेगी।

ज्ञान के सदुपयोग का लक्ष्य- भैया ! मिला है यह दुर्लभ नरजन्म, जिसमें इतनी विशुद्ध बुद्धि, विशिष्ट ज्ञान की जिस तत्त्व को हम समझना चाहे बारीकी से तो समझ डालते हैं। इतना ज्ञान मिला है तो उस ज्ञान का हम सदुपयोग करें, परपदार्थ जो मेरे नहीं हैं न हो सकेंगे और जिनकी दृष्टि रखकर आकुलताओं का निर्माण होता है उन परपदार्थों में अपना ज्ञान लगाना, दृष्टि फँसाना, उपयोग उलझाना, यह तो ज्ञान का सदुपयोग नहीं है। पाया है हम आपने ज्ञान तो उस ज्ञान का सदुपयोग करें तब तो दुर्लभ ज्ञान की प्राप्ति होने की सफलता समझी जाय। जैसे कोई पुरूष धनी हो गया और वह धन को बरबाद करता है वेश्यागमन में, परस्त्री में, मद्यपान में, गुंडों की दोस्ती में यों ही लुटाता है तो विवेकी समाज कहता है कि धन तो पाया मगर धन पाने का मजा न ले पाया, क्योंकि इसने धन का दुरूपयोग किया। इसी प्रकार इस नरजीवन में हम आपने ज्ञान पाया बहुत विशिष्ट। प्रथम तो पशु पक्षियों के मुकाबले में भी परखिये कि हमने कितना विशिष्ट ज्ञान पाया और फिर अनेक मनुष्यों पर दृष्टि डालकर परख लीजिए कि हमने करोड़ों अरबों मनुष्यों से भी विशिष्ट ज्ञान पाया। सारी दुनिया में मनुष्यों की संख्या अनगिनते अरबों की है। यहाँ तो लोग इस थोडी सी परिचित दुनिया के लोगों की संख्या बता देते हैं, पर इतनी ही संख्या मनुष्यों की नहीं है, मनुष्यों की संख्या अनगिनते अरबों की है। तो अब आप समझ लीजिये कि अरबों मनुष्यों से हम आपको कितना अधिक विशिष्ट ज्ञान मिला हुआ है। लेकिन इस ज्ञान का दुरूपयोग किया जा रहा है। ज्ञान में परवस्तुवें ही बसायी जा रही हैं। बहुत पुण्य के उदय का एक अपना जौहर सा बता रहे हैं। कैसा सफाई से रहना, कैसा परिजनों में, मित्रजनों में स्नेह करना, दूसरों से अपने को बड़ा सज्जन मना लेना, ये सब इस ज्ञान के उपयोग किए जा रहे हैं। भले ही लौकिक दृष्टि के अन्य अनेक अधिक गड़बड़ गृहस्थों के मुकाबले में कुछ श्रेष्ठ काम है, पर लगाव के नाते से तो वे काम हमारे व्यर्थ के काम हैं और ज्ञान के दुरूपयोग के काम हैं। हाँ, ज्ञान का सदुपयोग यह है कि मैं अपने इस सहज ज्ञानस्वरूप को ज्ञान में ले सकूँ और अपने आपके सहजस्वच्छ स्वरूप में अपनी प्रतीति बनाये रहूं, तो यह

है ज्ञान का सदुपयोग। और ऐसे ज्ञान का सदुपयोग करने के लक्ष्य में रहकर और कुछ करते हुए फिर घर परिजनों की व्यवस्था बनाये इस प्रकार, तो वह भी ज्ञान के सदुपयोग में शामिल हो सकता है, लेकिन ज्ञान का जो मुख्य सदुपयोग है वह दृष्टि में नहीं है तो दुनिया की निगाह से ज्ञान का कितना भी उत्तम सदुपयोग कर लिया जाय, वह ज्ञान का सदुपयोग नहीं है। तो इतना दुर्लभ श्रेष्ठ ज्ञान हम आपने पाया है तो उस ज्ञान का सदुपयोग है यही कि हम ज्ञान के द्वारा ज्ञान के स्वरूप को अपनी दृष्टि में लिए रहें।

ज्ञानस्वभाव की वंदना, उपासना का पौरूष- यहां समाधिभक्त संत अपने आपमें अपने स्वरूप को देख रहा है। मैं अकिन्चन हूं, अकिन्चन हूं इसमें तो कुछ भी संदेह नहीं। मेरे में बाहरी चीज कुछ भी नहीं है। परतत्त्वों का मुझमें रंच भी प्रवेश नहीं है। मैं अकिन्चन हूं और हूं वह ज्ञानमात्र। इस अकिन्चन ज्ञानमात्र मुझ आत्मा का उद्धार हो सकेगा तो इस ही ज्ञानमात्र स्वरूप के अनुभव से हो सकेगा। यही ज्ञान सर्वत्र है, ज्ञान ही सम्यक्त्व, ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान और ज्ञान ही सम्यक्चारित्र है। ऐसे इस परमपवित्र ज्ञानस्वरूप को मैं निहारूँ और उसमें ही तृप्त रहकर अपने क्षणों को सफल करूँ। हम बाहरी सफाई तो बहुत रखते हैं, मगर कितनी सफाई अपने आपमें है इसको निरखिये। अत्यन्त स्वच्छ केवलज्ञान ज्योतिमात्र, कितना सुहावना है मेरा घर, कितना स्वच्छ है यह मेरा घर, जहां केवल सहज ज्ञानप्रकाश ही अन्दर में एक समान, एक रूप से, एक ढंग से बन रहा है। घर में रंग रोपन लगे तो कितनी ही सफाई से करे, कहीं गाढ़ा, कहीं कम रह जायेगा, लेकिन मेरे निजी घर में जो स्वच्छता है उसमें तो एकरूपता है। वहां की स्वच्छता कितनी सुन्दर कितनी सुहावनी है? एक इस निज गृह की स्वच्छता में ही तृप्त रहे और सिद्ध की जाति के आनन्द का हम अनुमान करते हुए, लेशमात्र अनुभव करते हुए बड़ी शान्तिपूर्वक रहें यह बात मिलती है रत्नत्रयस्वरूप इस ज्ञानस्वरूप की उपासना के प्रसाद से। सो मैं अभेद वंदनपूर्वक इस निज रत्नत्रयस्वरूप ज्ञानस्वरूप का वंदन करता हूं।

वृषभ अजित संभव तत्त्व की उपासना- रागद्वेषरहित केवल ज्ञानमात्र के बीच सर्वसार समझने वाला समाधिभक्त संत बाहर जब किसी की सेवा में अपना उपयोग लगाता है तो उसे सेवा योग्य केवल वीतराग सर्वज्ञदेव की उपासना करता है, तो प्रयोजन उसका समाधिभाव ही है। यहां यह समाधिभक्त संत चतुर्विंश जिनेन्द्रदेव की वंदना कर रहा है और उन 24 तीर्थंकरों की वन्दना के समय निरखा क्या जा रहा है? जो लगन लगी है। जिसका जीवन में लक्ष्य बनाया है वही उसे दृष्टिगत होता है। जैसे माता का पुत्र के प्रति पुत्र की सब अवस्थाओं में पुत्रत्व वही लाल्यभाव रहता है। इसी प्रकार ज्ञानी संत समस्त तीर्थंकरों की वन्दना करते समय उसे वही शुद्ध लक्ष्य ज्ञानस्वभाव में रहता है। उनके नाम की वन्दना करते हुए भी वन्दना कर रहा है उस समाधिभाव की ही। जहां वृषभ शोभायमान है वृषभ कहिये वृषो भांति यत्र स:, ऐसे इस वृषभ आत्मा का वंदन करता हुआ वृषभदेव नामक तीर्थंकर की मैं वन्दना करता हूं। यह शुद्ध आत्मस्वरूप अजित है। किसी के द्वारा भी जीता नहीं जा सकता। जिसकी दृष्टि इस शुद्ध ज्ञानस्वभाव पर

है वह आत्मा ही अजित हो जाता है। विषयों के साधन उसको फिर कितना ही प्रलोभन दें, पर वह किसी के द्वारा भी पराजित नहीं होता। ऐसा जो अजित स्वभाव है, इस अजित ज्ञानस्वभाव का उपासक संत अजितनाथतीर्थंकर का मैं वंदन करता हूं। यह आत्मस्वभाव अनादिकाल से तिरोभूत है। इस ज्ञानस्वरूप का जब सम्भव होता है, अपने सहजस्वरूप के रूप में जब विकास होता है तो इसका यह सम्भव इसका यह विकास सदा के लिए यह विकास रहा करे, जिस सम्भव का कभी व्यय न हो ऐसा उत्पाद होता है। इस आत्मतत्त्व का आत्मतत्त्व के उपयोग के प्रसाद से कि जिसका फिर कभी विनाश न हो। यद्यपि अगुरूलघुगुण के कारण निरन्तर होने वाला परिणमन चलता रहता है पर वे सब समान रहते हैं। उस समानता की दृष्टि से जो विकास पाया है उस विकास का कभी भी व्यय नहीं हो सकता है। तो व्ययरहित जिसका स्वरूप हुआ करता है ऐसे इस ज्ञानस्वभावमय सम्भवनाथ की मैं वन्दना करता हूं।

अभिनन्दन सुमति पद्म सुपार्श्व चन्द्र तत्त्व की उपासना- यह समाधिभक्त संत जब अपने आपमें रागादिक विकार रहित केवल ज्ञानस्वभाव आत्मदेव को पा लेता है उस समय इसके अभि कहो चारों ओर नन्दन कहो आनन्द चलता है, जिसके आलम्बन से अभिनन्दन का अनुभव होता है। ऐसा उस अभिनन्दन प्रभु की मैं वन्दना करता हूं। जहां शुद्ध ज्ञान का ही विस्तार है, दूसरी कोई वस्तु ही नहीं है, जो केवल निज है, स्वयं है, ज्ञानस्वरूप है, जो कि स्वभावत: सहज है, ऐसे इस सुमति के नाथ की मैं वन्दना करता हूं। समाधिभक्त संत को केवल समाधि की प्रीति है, दूसरी ओर धुन नहीं रहती और कुछ इसकी चाह ही नहीं रहती। जैसे किसी का कपट जानकर बालक फिर उस चीज को ग्रहण नहीं करता, चाहे उसे कितनी ही खाने की चीज फिर दी जाय पर वह उन्हें फेंककर उनसे निवृत्त रहना चाहता है। उन चीजों में उसका चित्त नहीं लगता। इसी तरह इस संसार का कपट जानकर इस भव्य आत्मा को सबसे उपेक्षा हो गई है और उस उपेक्षा होने के कारण वह अपने आपमें ही समाये रहने की धुन बनाये हुए है। किसी में भी उसका चित्त नहीं लगता है। ऐसे समाधिभक्त ज्ञानी संत को केवल समाधिभाव में ही रूचि हो रही है और वह समाधि है अपने आपमें और वह है प्रकृष्ट रूप से शोभायमान। तो जो अपने अन्तस्तत्त्व में ही प्रकृष्ट रूप से विकसित है, विराजमान् है ऐसे पद्मप्रभु देव की मैं वन्दना करता हूं। जो समाधि का आधार है वह अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। समाधि में जो आनन्द प्राप्त होता है वह किसी भी विषय के लगाव में नहीं मिलता। वह आधार कहां कहां ढूंढा जाय और वह तो अत्यन्त निकट है। और निकट रहने वाला भी नहीं, किन्तु स्वयं पास है, पास भी क्या, जो स्वयं ही है, ऐसे इस स्वभाव के नाथ सुपार्श्वनाथ की मैं वन्दना करता हूं। इस सुपार्श्वदेव में, इस सहज निज स्वरूप में ही अमृततत्त्व बसा हुआ है। जो न मरे उसे अमृत कहते हैं। जैसे कहते हैं कि अमृत का पान करो तो इसका अर्थ यह है कि जो मृत नहीं है ऐसे अमृत का पान करो। जो मरता नहीं है सो अमृत। जगत् में कोई भी बाह्यवस्तु ऐसी नहीं है क्योंकि कोई फल या रस या कोई पदार्थ अमृत होता तो जब उसका पान किया जाता तो वह तो मुख में आते ही मर गया। जो मर

गया वह तो मृत है। वह अमृत कहां है? अथवा जो रागादिक विकारों में अधिक रहा करता है, इच्छा करके विषयों का भोगोपभोग करता है, वे बाह्यपदार्थ उनका जो कुछ भावों में अनुभव किया जा रहा है, पान किया जा रहा है वह मृतपान है। वे पदार्थ भी कर गए और ये इच्छायें, ये रागादिक विकार, ये होकर भी मर जाते हैं। अन्तरंग में विकारों का पान किया है जो कि मृत है, लेकिन आत्मा का सहज ज्ञानस्वरूप यह अमूर्त है। कभी मरता नहीं है, किन्तु जैसे जैसे इसका पान किया जाय, जैसे-जैसे इसका अनुभव किया जाय वैसे ही यह विकसित होता है, जीवित रहता है। ऐसे इस अमृत समाधिभाव से जिसका झरना हो रहा है ऐसे चन्द्र की तरह जो अपने आपमें प्रकृष्ट रूप से आसमान है, ऐसे निज ज्ञानमय चन्द्रप्रभु को मैं वन्दना करता हूं।

पुष्पदन्त, शीतल, श्रेयान् वासुपूज्य, विमलतत्त्व की उपासना- पुष्पदन्त यह आत्मा स्वयं पुष्पदन्त है, पुष्प कहते हैं विकसित को। जो विकसित हो उसे पुष्पदन्त कहते हैं। दमनशील, जिसका अपने आप पर नियन्त्रण हो, जो स्वयं अपने उपयोग में नियंत्रित हो ऐसा यह पुष्पदन्त स्वरूप पुष्पदन्त प्रभु की मैं वन्दना करता हूं। जो परमशीतलता के स्वामी हैं। शीतल का अर्थ यहाँ ठंडे से नहीं है, किन्तु जो ठंडे को लावे उसे शीतल कहते हैं। ठंडे का अर्थ है शान्ति। जो शान्ति को पैदा करे उसे शीतल कहते हैं। संसार की इस विकल्प अग्नि से संतप्त हुए पुरूषों को जो शीतल करे, ऐसा शीतल यह स्वयं ज्ञानमय प्रभु हैं। ऐसे स्वयं शीतल, शीतलनाथ की मैं वन्दना करता हूं। समाधिभक्त पुरूष अपने आपको निरख रहा है कि यह ही मैं स्वयं कल्याणस्वरूप हूं, श्रेयांस् हूं। मैं अपने आपके इस अविनाशी ज्ञानस्वरूप को अपने उपयोग में रमायें रहूं तो यह मैं स्वयं श्रेयांस् हूं, कल्याणमय हूं। ऐसा अपने आपमें अपने ज्ञानानन्दस्वरूप कल्याण को निरखता हुआ समाधिभक्त पुरूष कहता है कि मैं श्रेयांस् नाथ को नमस्कार करता हूं। इस श्रेयांस् नाथ की उपासना से हमें अपने आपके श्रेयांस् स्वरूप की याद आती है। यह आत्मा ही वासुपूज्य है। जगत् से जितने भी इन्द्र हैं ऊर्द्धलोक के, अधोलोक के इन इन्द्रों के द्वारा जो पूज्य है, सम्यग्दृष्टि पुरूषों के द्वारा जो उपासनीय है ऐसे वासुपूज्य इन ज्ञानानन्द स्वभाव के अनुराग में समाधिभक्त पुरूष इस वासुपूज्य का वंदन कर रहा है। यह आत्मतत्त्व विमल है। कोई भी पदार्थ होता है तो वह अपने आपमें अपने आपकी ओर से स्वयं कैसा है? स्वयं अपने स्वरूप है। उसमें पर का कोई लगाव नहीं है और पर का कोई प्रभाव नहीं है। इसी प्रकार यह मैं आत्मा अपने सहजभाव से अपने आपमें कैसा हूं? केवल ज्ञानस्वरूप, निर्मल, जिसमें किसी प्रकार का मल नहीं। मल सदा द्वन्द्व में होता है बाह्य वस्तु के सम्पर्क से होता है। बाह्य कहते उसे हैं जो स्व समय हो। यदि बेन्च पर कोई दूसरी चीज रखी हो तो वह बेन्च समल है, निर्मल नहीं है। किसी भी चीज का लगाव लगा हो तो भी वह विमल नहीं है। विमल तब होता है जब वह अपने एकत्वस्वरूप को लिए हुए होता है। तो यह अन्तस्तत्त्व विमल है। केवल अपने आपके सहज ज्ञानस्वरूप को ही लिए हुए है। ऐसा विमल स्वभाव अन्तस्तत्त्व का भक्त पुरूष विमलनाथ स्वामी का वंदन करता है।

अनन्त, धर्म, शान्ति तत्त्व की उपासना- इस समाधिभाव के आधारभूत इस ज्ञानानुभव को जिसने परखा अथवा ज्ञान का स्वरूप जिसने देखा वह जान पाता है कि यह शुद्ध आनन्द है। इसकी सीमा पूरी नहीं होती। क्षेत्र से, काल से, भाव से इसकी सीमा पूरी नहीं होती, ऐसा यह अनन्त ज्ञानस्वभावी है। जहां ज्ञानपूर्ण विकसित होता है। यह ज्ञान लोक में भी पूरा गया और अलोक में भी पूरा गया। आत्मा नहीं जाता पर यह ज्ञान चला जाता है। इसे केवल एक ज्ञान गति की दृष्टि से निरखना है, प्रदेशों की दृष्टि से नहीं। तो जिसके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की कोई सीमा नहीं है। और साथ ही जिसका कभी विनाश नहीं होता ऐसे अनन्त ज्ञानस्वभाव के परिणाम वाला यह समाधिरूचिया अनन्त नाथ स्वामी का वन्दन कर रहा है 24 तीर्थंकरों का वंदन, मगर सबमें समाधिभाव देखता है। प्रभु से उस भक्त का कोई नाता रिश्ता नहीं है, कोई सम्बंध नहीं है, सम्बंध है केवल अन्तस्तत्त्व का। उसी अन्तस्तत्त्व को तीर्थंकरों में परखकर यह समाधिभक्त पुरूष वंदन कर रहा है। यह आत्मा स्वयं धर्मस्वरूप है। धर्म करो, धर्म का पालन करो, धर्म की शरण गहो, धर्म की छाया में रहो, यह सब कुछ कहा जाता है, मगर वह धर्म कहां मिलेगा? किसकी छाया में जायें? यह धर्म कहीं बाहर नहीं है। धर्मस्वरूप यह मैं आत्मा स्वयं हूं। मेरा सहज अन्तस्तत्त्व है ज्ञानमात्र। उसको निरखिये तो यह आत्मा स्वयं धर्मस्वरूप है अथवा इसका जो स्वभाव है, वह शाश्वत अनादि अनन्त है। यह स्वयं धर्म है। ऐसे धर्म के नाथ धर्मनाथ प्रभु का मैं वंदन करता हूं। जगत के समस्त जीव शान्ति के लिए सारा प्रयत्न करते हैं। भागें दौड़े, स्नेह करें, मोह करें, छोटे से छोटे अथवा बड़े से बड़े, सभी कार्य करने का उद्देश्य केवल एक शान्ति है। मेरे को शान्ति मिले, आकुलता न रहे तो ऐसा सन्तोष हम कहां पायेंगे? किसके आलम्बन से पायेंगे? किसकी विनती करके पायेंगे? वह शान्ति कहीं बाहर नहीं है। यह ही मैं निज स्वरूप अकिन्चन हूं, मेरी ज्ञानज्योति के सिवाय और कुछ भी मेरा नहीं है। जो शाश्वत है, मेरा स्वरूप मात्र है, ऐसे इस ज्ञानभाव को अनुभव में लें तो वहां शान्ति विराजती है। ऐसे शान्ति के आधार, ऐसे शान्ति के नाथ शान्तिनाथ का मैं वंदन करता हूं।

कुन्थ, अरह, मल्लि परमतत्त्व की उपासना- यह नाथ जो धर्मस्वरूप है शान्ति का स्वामी यह समस्त जीवों में एक समान पड़ा हुआ है। अल्प से अल्प भी जीव हो, निगोद से तुच्छ पर्याय और किसे माना जाय? अब तक समस्त जीवों में जो एक समान रूप से जो बर्त रहा हो जो समस्त जीवों का नाथ हो, सबमें एक सहज अन्त:प्रकाशमान् हो ऐसे इस सहज ज्ञानानन्द स्वरूप के नाथ कुन्थुनाथ की मैं वन्दना करता हूं। यह स्वभाव किसी की दृष्टि में आ तो जाय, फिर ये कर्मशत्रु, विकल्पशत्रु आदि ठहर नहीं सकते, अतएव यह आत्मस्वभाव अरह है। अरि का हनन करने वाला है, इसी कारण यह आत्मस्वभाव समस्त जनों के द्वारा वंदनीय है। ऐसे इस अरहनाथ का मैं वंदन करता हूं। जगत में विकृत बल पर गौरव रखने वाले मल्ल बहुत मिलेंगे। शरीर में जो बल प्रकट हुआ है वह विकृत बल है। आत्मा अनन्त बली है। उसका सम्बंध है इस शरीर के साथ। जब आत्मा शरीर से बिदा हो जाता है तो बलिष्ट भी मल्ल हो

उसमें बल नहीं रहता। पड़ा रहता है। तो इस शरीर में जितने भी बल आये वे बल कहां से आये? किसने प्रकट किए? वह बल आत्मा के विकृत बल का प्रताप है। तो विकृत बल से गौरव रखने वाले मल्ल जगत में अनेक मिलेंगे, किन्तु अनादि काल से जो शत्रु सता रहे हैं संकल्पविकल्प, वे बराबर मर जाते हैं किन्तु इनके कुल की ऐसी परम्परा चलती रहती है कि ये सब विकल्प बराबर चलते रहते हैं। उन समस्त विकारों पर विजय करने वाला, उनके समूह को नाश करने वाला कौन है? यह स्वयं ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा। ऐसे मल्लिनाथ का मैं वंदन करता हूं।

मुनिसुव्रत, नमि, नेमि पार्श्व, वर्द्धमान तत्त्व की उपासना- यह आत्मा किस उपाय से इस शत्रु पर विजय करता है? दूसरे शत्रु को कोई दूसरा मारे तो बहुत क्रोध करना पड़ेगा और क्रोध करने से ही दूसरे को मारा जा सकेगा। किन्तु आश्चर्य है कि यहां शान्ति के बल पर, ज्ञान के बल पर दूसरों पर विजय प्राप्त कर ली जाती है। यह आत्मा सहज व्रत है, सुव्रत है। तो यह मुनि सुव्रत आत्मदेव इस समस्त आत्मा में ज्ञान के बल पर अपने आपमें लगे, ऐसा क्यों नहीं होता। देखो लोक में तो किसी पर विजय पाने के लिए क्रोध लाना पड़ेगा, अपने से बाहर में चेष्टा करनी पडेगी तब वहां शत्रुओं का नाश किया जा सकता है, पर यहां इस अनादि काल से चले आये हुए इन विकारों को नाश करने के लिए उससे बिल्कुल उल्टा काम करना पड़ रहा है। यहां क्रोधी बनकर दूसरों को पछाड़ पाते हैं तो यहाँ ज्ञान बनाकर कर्म शत्रु को पछाड़ा जा रहा है। यह दुनियावी बल अपने से बाहर होकर शत्रु का नाश कर पा रहा है, किन्तु यह अपने आपमें समाकर अपने आपमें लीन होकर इन शत्रुवों को समाप्त कर रहा है। ऐसा यह मुनिसुव्रत आत्मदेव वंदनीय है। ऐसा कौनसा चक्र है जिसके द्वारा अपने आपको सताने वाले शत्रु का ध्वंस किया जाय? वह चक्र है यह स्वयं आत्मदेव, यह ज्ञानानन्दस्वरूप सहज आत्मतत्त्व। ऐसे इन समस्त संतापों को नष्ट करने वाले नेमिनाथ स्वामी की मैं वन्दना करता हूं। पर अपने को शान्ति ज्ञान आनन्द पाने के लिए बहुत बड़ा काम करना है और वह काम आज की स्थिति में बड़ा बोझ सा जंच रहा है। जैसे सम्यक्त्व का आचरण, सम्यग्ज्ञान की प्रवृत्ति, सम्यक्चारित्र रूप परिणमन। नियम व्रत, संयम ये सब बड़े बोझ लग रहे हैं और इन सब बोझों का धुरा है संसारी जीवों का अज्ञान। इस बोझ को जब रत्नत्रय धुरे पर विराजमान करे तो यह कोई बोझ नहीं मालूम होता है। जो धर्म की धुरे पर अपने आपके उपयोग को विराजमान करके चलता है और चलकर संसार उपयोग करके मुक्तिमार्ग में पहुंचता है। उस धुरे के धारण करने वाले नेमिनाथ स्वामी की मैं वन्दना करता हूं। वह सब कुछ है कहाँ? वह यहीं पास है अथवा इसे पारस कहो। जैसे पारस का सम्बंध लोहे से हो जाय तो लोहा स्वर्ण बन जाता है, इसी प्रकार पारस का सम्बंध हो जाय इस उपयोग से, जो उपयोग अब तक मलिन बन रहा है उस उपयोग का इस पारस से स्पर्श तो हो जाय: बस, यह उपयोग शुद्ध अविकार हो जायेगा, यह स्वच्छ बन जायेगा। जो स्वयं ऐसा पारस है ऐसे पार्श्वनाथ प्रभु की मैं वन्दना करता हूं। यह आत्मदेव वर्द्धमान है। बढ़ने का ही स्वभाव रखता है। इसकी

ओर कोई आये तो सही, इसकी ओर कोई दृष्टि तो दे। यह स्वयं वर्द्धमान है, प्रगतिशील है। प्रतिक्षण यह बढ़ते रहने का स्वभाव रखता है। ऐसे वर्द्धमान देव की मैं वन्दना करता हूं। इस वर्द्धमान स्वभाव की उपासना से निर्वाण की प्राप्ति होती है।

आत्मदेव की उपासना से संकट दूर होने के मार्ग का लाभ- ये चौबीस तीर्थंकर अनेक अन्य समस्त आत्माओं से जो कि निकटभव्य थे जिन्होंने अपने आपमें अपने स्वरूप की आराधना की, जिसके प्रताप से निर्वाण प्राप्त किया, उनके निर्वाण के उपलक्ष में मैं उनकी वंदना करता हूं। ठीक है किन्तु भीतर से एक पर्व के नाते से भी रूचि नहीं होती तब अन्तरंग वंदना का क्या भाव हो? जिसको रूचि होती उसकी पूजा के लिए, उसकी उपासना के लिए बहुत जल्दी-जल्दी उसके पूजने की बात मन में रहती है, लेकिन जहाँ जल्दी की बात तो दूर रही, किन्तु और जनों से भी अधिक देर लगायी जाय वहाँ यह कैसे अनुमान लगाया जा सकता है कि पर्व के नाते से भी वर्द्धमान प्रभु की उपासना में हमारी रूचि है। रूचि के बिना जो भी काम किए जाते हैं भाव में वह भावना नहीं जग सकती। हम यदि इस वर्द्धमान स्वभाव की, इस वीतराग स्वभाव की रूचि बनायें और उस स्वभाव की उपासना में हम अन्य काम छोड़कर जल्दी मचायें तो यहाँ यह भली बात है। यह नरजीवन थोड़े से समय के लिए मिला हुआ है। जब तक इस देह में किसी प्रकार का रोग न आये, बुढ़ापे से यह देह घिर न जाये, तब तक इस नरजीवन का सदुपयोग कर लें, उसके ही निकट अपना उपयोग रखें और उसमें ही तृप्त रहने की अपनी प्रकृति बनायें। चाहे दुकान पर हों अथवा अन्य किसी जगह, किसी भी काम के प्रसंग में हों, सब जगह अपने आपके निकट रहकर इस आत्मस्वरूप की उपासना की जा सकती है। कर्तव्य यह है कि अपने आपके उस ज्ञानानन्दस्वरूप को सारभूत जानकर अन्य सबको असार जानें। चाहे तीन लोक की सम्पदा भी प्राप्त हो, उस सम्पदा को भी असार तृण की नाई समझें। पर अपने ज्ञानस्वरूप की उपासना का कार्य कर लें, यहीं एक सारभूत कार्य है। यदि यह कार्य कर लिया गया तो समझो कि बेड़ा पार है। इस आत्मस्वरूप की उपासना से ही हम आपके समस्त संकट सदा के लिए टल सकते हैं।

समाधिभक्त द्वारा समाधिसम्पन्न पन्च गुरूवों की वंदना- समाधिभाव की उत्सुकता समझ लेने वाला ज्ञानी संत जो जो पुरूष समाधिभाव को ग्रहण कर रहे हैं और उसमें सफल हुए हैं उन सब पुरूषों को नमस्कार कर रहा है, कोई नमस्कार करे और किसी को नमस्कार किया जाय, इस बीच जो नाता है वह समाधिभाव से नाता है, अन्य नाते से नमस्कार करने का सम्बंध नहीं है। तब समाधिभाव के धनी 5 महान् आत्मा हैं जिन्हें पंचगुरू शब्द से कहा गया है- अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु। इन पंचगुरूवों की मैं वंदना करता हूं। इन पंचगुरूवों में से सबसे प्रथम गुरूपद आता है साधु का। यद्यपि आचार्य, उपाध्याय और साधु- ये तीनों ही मुनि कहलाते हैं। तीनों का एक सा ही स्वरूप है, निर्ग्रन्थ है, निष्परिग्रह है। ये ज्ञान ध्यान तपश्चरण में लीन रहा करते हैं। फिर भी कुछ समय साधुपद में रहने के बाद आचार्य

अथवा उपाध्याय पद दिया जाता है इस कारण सर्व प्रथम पद मिलता है तो साधुपद मिलता है। ये पंचपरमेष्ठी कहलाते हैं। परमपद में स्थित कहलाते हैं। इनका अपने-अपने पद में आचरण निर्दोष रहता है इसी कारण इनमें परमेष्ठिता है।

साधुवों की स्पर्शनविषयविरक्ति- साधु का स्वरूप कहा गया है- जो विषयों के आशा के वश न हो विषय हैं 6 प्रकार के। स्पर्शनइन्द्रिय, रसनाइन्द्रिय, घ्राणइन्द्रिय, चक्षुइन्द्रिय, श्रोत्रइन्द्रिय और मन। कोमल चीज सुहाये, कड़ी चीज सुहाये, चिकना, रूखा, भारी, वजनदार, हल्का आदि स्पर्श सुहाये, ये 8 प्रकार के स्पर्श जो सुहाये, उनकी रूचि जगे, उनके साधन मिलाये, उनमें हर्ष माने, यह स्पर्शन इन्द्रिय का विषय है। साधुजन स्पर्शन इन्द्रिय के विषय से अतीत होते हैं। बड़े लाड़प्यार में, बड़ी सुकुमालता में पले हुए बड़े-बड़े पुण्यवान लोग जब संसार, शरीर भोगों से विरक्त हो जाते हैं तो कंकरीली भूमि में सोते हैं और उसमें वे खेद नहीं मानते हैं और न पूर्वकाल में भोगे हुए भोगों का चिन्तन करते हैं। आनन्द तो सच्ची विरक्तता में ही प्राप्त होता है। कोई पुरूष विषयों से विरक्त हो, विकार रहित केवल ज्ञानस्वरूप की ही बाट जोहता रहता हो और जिसका एकमात्र प्रयत्न यह है और जिसने एक यही निर्णय किया है कि मेरा जीवन तो केवल इस ज्ञानमात्र स्वरूप में रमने के लिए है, शरीर के आराम की कोई बात नहीं चिन्तन में लाते हैं। ऐसे आत्मसाधना के साधक साधु पुरूष अपने आपमें अपनी ही धुन बनाने के लिए अपना सारा जीवन मानते हैं। इसी कारण साधुजनों के पास पिछी, कमण्डल और शास्त्र ये तीन उपकरण बाहरी रूप से पाये जाते हैं। जिनके चित्त में शोक परिग्रह ये कुछ भी नहीं लगे हुए हैं, जिन्होंने अपना एक यह प्रोग्राम बना लिया है कि मुझे तो मुक्त ही होना है और किसी दूसरी बात में मेरा गुजारा नहीं है। इस प्रकार का जिन्होंने अपना निर्णय बना लिया है, वे साधु पुरूष परमेष्ठी कहलाते हैं।

साधुवों की रसनादिविषयविरक्ति- जो रसनाइन्द्रिय के वश नहीं हैं, जिनका प्रोग्राम मात्र मोक्ष प्राप्ति का है वे सरस भोजन नहीं ग्रहण करते। वे तो मात्र अपना जीवन चलाने के लिए शुद्ध सात्विक आहार ग्रहण करते हैं। वे जानते हैं कि घाटी नीचे माटी। भोजन जब गले के नीचे उतर गया तब तो वह माटी के समान हो गया, उसमें फिर स्वाद कहां रह जाता? एक क्षण के स्वाद का रोग आने से कितना खोटा कर्मबन्ध बनता है और कैसे संस्कार बनते हैं कि जीवन भर उसके साधन बनाये रहने को दिल चाहता है। उनको अलग करने का चित्त नहीं चाहता। घ्राणइन्द्रिय का विषय तो बिलकुल ही एक व्यर्थ जैसा है। सूँघा तो क्या, न सूँघा तो क्या? कितने ही पुरूष तो ऐसे होते हैं कि अनेक प्रकार के इत्र फुलेल के सूँघने में बड़ा मौज मानते हैं। अनेक प्रकार के फूल तोड़कर उनको बहुत-बहुत सूँघते रहने में बड़ा हर्ष मानते हैं, वह फूल एकेन्द्रिय जीव हैं, उन्हें प्रत्येक वनस्पति का जीव कहते हैं, पर उन फूलों में, उन पत्तों पत्तों में असंख्याते प्रत्येक जीव और रहते हैं, साथ ही यदि वह किसी प्रकार का विशिष्ट फूल है तो उसमें अनन्त निगोद जीव भी रह सकते हैं, वृक्ष से फूल फल अथवा पत्ते टूटने के बाद कुछ समय तक उसमें असंख्याते

प्रत्येक जीव रहते हैं। उस समय भी पता नहीं है कि कब उसमें से जीव निकले हैं अथवा नहीं है। जब एकदम सूखा हुआ सा दिखने लगता है तब तो कुछ विश्वास होता है कि इनमें से वे भी असंख्याते प्रत्येक जीव निकल गए। तो ऐसे फूलों का ग्रहण ये साधु नहीं किया करते हैं। चक्षुइन्द्रिय का विषय है रूप का अवलोकन तथा श्रोत्रइन्द्रिय का विषय हैं मनोज्ञ शब्दों में राग। इन सब विषयों से साधु विरक्त रहा करते हैं।

साधुवों की मनोविषयविरक्ति- साधुवों को अरहंत का नन्दन कहा गया है। जिनेश्वर के लघुनन्दन। वे साधु अरहंत के ही कुटुम्ब के माने जाते हैं, तो उनकी मुद्रा ऐसी होनी चाहिए जैसी कि अरहंत की प्रतिमा निरखते हैं, जिसको किसी से राग नहीं, किसी से विरोध नहीं, किसी से विशेष बोलचाल नहीं, एक अपनी आत्मसाधना की धुन में ही रहा करते हैं। जिनका दर्शन पाकर जिनेश्वर के दर्शन पाने के समान फल मिलता हो, ऐसा साधु परमेष्ठी का स्वरूप जिनमुद्रा में बताया गया है। तो जिनमुद्रा का अर्थ इतना ही नहीं है कि जिनेन्द्र प्रभु की तरह नग्नमुद्रा हो किन्तु जिनेश्वर की भाँति समता का भाव भी हो। जैसे प्रभु रागद्वेष रहित हैं, उनमें अकिन्चनता है, ऐसे ही साधु में भी होना चाहिए, हाँ जिनेन्द्र और साधु में इतना अन्तर है कि जिनेन्द्र प्रभु को अब पिछी, कमण्डल, शास्त्र आदिक उपकरण भी रखने की आवश्यकता नहीं रही और यहाँ साधु को पिछी, कमण्डल तथा शास्त्र, ये उपकरण रखने पड़ते हैं। इन तीन उपकरणों के अतिरिक्त अन्य प्रकार के परिग्रहों से वे अति दूर रहा करते हैं और इस ही निष्परिग्रहता के बल पर वे आत्मतत्त्व की साधना में ही निरत रहा करते हैं। जिनके दर्शनमात्र से ज्ञानी पुरूष अपने आत्मतत्त्व का स्मरण करते हैं यह समाधिभक्त संत रत्नत्रय की वंदना के बाद और 24 तीर्थंकरों की वंदना के बाद पंचगुरूवों की वंदना कर रहा है। साधु परमेष्ठी में आचार्य, उपाध्याय और साधु सम्मिलित हैं। जिनमें बहुत ही विशिष्ट ज्ञान होता है ऐसे इन साधुजनों में क्रोध रंच मात्र भी नहीं होता, वे किसी को गाली श्राप आदि नहीं देते। उनकी तो चाहे कोई प्रशंसा करे चाहे निन्दा, उनकी दृष्टि में वे दोनों ही एक समान हैं। धन्य है उनका यह भाव। जिन साधु संतों के ये भाव आ जाते हैं, उनके दर्शन करने मात्र से पापकर्मों का विनाश होता है। और फिर उन समता के पुन्ज साधुवों की प्रशंसा ही कौन कर सके? चाहे कोई उनकी निन्दा करे, चाहे अर्घ उतारे, चाहे उन पर कोई तलवार चलाये, वे सब उनकी दृष्टि में एक समान हैं। उनकी दृष्टि में न कोई शत्रु है, न मित्र, उन साधुजनों को बहुत के स्वरूप का सही परिचय निरन्तर उपयोग में रहता है इस कारण उनकी दृष्टि में समताभाव है। इस समताभाव के अधिकारी गृहस्थजन क्यों नहीं बन पाते? यों नहीं बन पाते कि उनके पास आरम्भ परिग्रह हैं। उन आरम्भ परिग्रहों के बीच चिन्तायें हो जाना स्वाभाविक बात है। उन परिग्रहों के बीच अनेक प्रसंग ऐसे आते रहते हैं जिनमें क्रोध, मान, माया, लोभादिक कषायें उत्पन्न होती रहती हैं, उनमें समता परिणाम लाने की बात नहीं बन पाती है, लेकिन साधु परमेष्ठी तो

आरम्भ परिग्रह से अत्यन्त दूर होते हैं, उनको किसी प्रकार की आशा प्रतिक्षा नहीं रहती है, उनमें पराधीनता नहीं है, इस कारण वे अपने आत्मा में स्वतंत्र विहार करते हैं।

अर्हत्पद की परमेष्ठिता- आचार्य, उपाध्याय और साधु, ये तीन प्रकार के साधु परमेष्ठी होते हैं। ये जब आत्मस्वरूप में लीन हो जाते हैं तो चार घातियाकर्म नष्ट हो जाते हैं। आज ऐसा सम्भव नहीं है कि कोई चार घातियाकर्म नष्ट कर सके और मुक्ति प्राप्त कर सके, लेकिन विदेह क्षेत्र में अब भी मोक्षमार्ग चालू रहा करता है। जब चार घातियाकर्म नष्ट हो जाते हैं तो अरहंत अवस्था प्राप्त होती है। वहां केवलज्ञान उत्पन्न होता है। तीन लोक, तीन काल के समस्त पदार्थों का परिज्ञान होता है। वैसा ही अनन्त काल तब ज्ञान चलता रहेगा। उनमें अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति व अनन्त आनन्द प्रकट हो रहा है और सदाकाल ऐसा ही आनन्द प्रकट होता रहेगा। ऐसे अनन्त चतुष्टय सम्पन्न अरहंत भगवान की मैं वंदना करता हूं। देखिये- अनन्त काल गुजर गया, अनन्त भव गुजर गए और आगे अनन्त काल पड़ा है। उन अनन्तभवों में से किसी भी भव के किसी भी साधन से इस जीव का कुछ लगाव है क्या? उन अनन्तभवों में से एक यह प्राप्त भव कुछ गिनती भी रखता है क्या? कुछ भी तो गिनती नहीं रखता। तो इस ही भव में अन्य सब प्रकार के संकोच छोड़कर अन्य प्रकार की आशाओं को तिलान्जलि देकर, समस्त प्रकार के कल्पनाजालों को त्यागकर एक इस आत्मतत्त्व की साधना के लिए अपने इस एक भव को समझ लें। यदि यह काम कर लिया तो समझ लो कि कुछ ही भवों के बाद नियम से मुक्ति प्राप्त होगी। आखिर यहाँ सदा किसी को नहीं रहना है, आज जिसे जो भी समागम प्राप्त हैं वे भी सदा साथ न रहेंगे, ये सब बिछुड़ जायेंगे। यह जो दिखने वाला भौतिक शरीर है यह भी जला दिया जायेगा। मुझ आत्मा को तो कोई देखता नहीं। इस शुद्ध आत्मा पर दृष्टि देकर मुझसे बात नहीं किया करता है। जो भी बात करता है वह इस पर्याय से बात करता है, मैं तो एक शुद्ध तत्त्व हूं, चैतन्यमात्र हूं उससे कोई बात नहीं करता। तब किसी का क्या संकोच, किसी की क्या पराधीनता? किसी की क्या दृष्टि देना। अपने आपको तकिये। अपने आपको निरख लिया तो आपने सब कुछ पा लिया। अपने आपको न तक पाया तो दुनिया में कितना ही भँवरे की तरह मंडराया जाय जगह-जगह, बहुत-बहुत नामवरी प्रतिष्ठा भी बना ली जाय तो उससे आत्मा का रंच मात्र भी हित नहीं हो सकता। आत्मा का हित तो तब होगा जब अपने से भिन्न सर्व परद्रव्य की उपेक्षा करके अपने आपके स्वरूप की श्रद्धा की जाय और उस ही में लीन हो जाया जाय। यदि ऐसा करते नहीं बन पा रहा है तो ऐसी प्रतीति तो रखिये- कि हम एक इस काम को करने के लिए इस मनुष्य भव में आये हैं, अन्य किन्हीं भी कार्यों के लिए नहीं- ऐसी जिनकी भावना हुई है और जो अपने आपके स्वरूप में लीन रहने का यत्न कर रहे वे साधु चार घातिया कर्मों का नाश कर अरहंत अवस्था को प्राप्त करते हैं।

अरहंत परमेष्ठी की उपासना में आत्मलाभ- एक इस अरहंत प्रभु के अतिरिक्त किससे प्रेम बनायें, किसका विश्वास करें? घर के स्त्री पुत्रादिक बड़े आज्ञाकारी हैं, बड़े भले हैं, अरे हैं तो हैं, वे अपने लिए हैं,

मेरे लिए भले नहीं हैं, यों निरखना चाहिए। बहुत गुणवान है कुटुम्ब जिसका कि आकर्षण हो जाना प्राकृतिक बात है तो जहाँ धर्म का नाता है उस नाते के साथ तो आकर्षण रहा लेकिन यह बहुत सरल है, यह हमारी बात बहुत मानता है, यह हमारे लिए बहुत सुख साधन बनाता है और शान्ति से रहता है, किसी का बिगाड़ नहीं करता, ऐसे बहुत-बहुत गुण हैं, वे गुण पर्याय की दृष्टि में हैं। आत्मा में तो ये दोष माने जाते हैं, जिनको हम गुण समझते हैं वे गुण आत्मा में दोष हैं, किन्तु पर्याय की निगाह में गुण हैं। यह बहुत आज्ञाकारी हैं, ऐसा आज्ञाकारी होना क्या आत्मा का गुण है? यह तो आत्मा का विकार है, हम किसी के गुणों पर आकृष्ट होकर उससे स्नेह बढ़ा लेते हैं लेकिन यह स्नेह बढ़ाना भी एक अपने आपके लिए आवरण का काम करता है। एक आत्मा के सहज स्वभाव के नाते से उस सहज स्वभाव की दृष्टि से अगर सम्बंध बनता है, आकर्षण होता है वह मोक्षमार्ग में बाधक नहीं है। तो अरहंत प्रभु की भक्ति भी हमारी केवल एक समाधि के नाते से है। इस समाधिभक्ति में यह निरखते जाइये कि समाधि के नाते से ही अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुजनों के प्रति भक्ति होती है, और कोई दूसरा नाता ज्ञानी पुरूष के नहीं है, यह जिसका निर्णय है, जिसकी ऐसी प्रवृत्ति है वह कभी भी धर्म से विचलित नहीं हो सकता, जिस बात की आज हम धर्मनिरपेक्षता के नाते से उपेक्षा कर देते हैं। हमारे आचार्यों ने, वीतराग सर्वज्ञदेव ने यह बात एक बहुत बलपूर्वक बताई है 'कि देव जिनेन्द्र, गुरु परिग्रह बिन, धर्म दयाजुत सारो।' सम्यक्त्व के कारण ये तीन चीजें हैं। देव मानें तो अरहंत को। देखिये- प्रतीति के साथ सम्बंध है, अकिन्चन है, ज्ञानमात्र ही अपने को प्रतीति में लिए हुए है, और धर्म को मानें तो दयामयी धर्म को माने। स्वदया और परदया का सम्बंध हो, ऐसी वृत्ति को माने, यह सम्यक्त्व का कारण है। इसके विरूद्ध अगर चलें तो मिथ्यात्व होगा। संसार में रूलना होगा। क्योंकि उसका चित्त बदल गया। संसार के साधनों में ही उसकी रूचि बढ़ गई। वह सम्यक्त्व से विमुख होकर संसार की परम्परा बढ़ाकर अपनी बरबादी कर लेगा। हे आत्मन् ! कुछ अपने आप पर दया तो करो। अपने आपमें सही निर्णय करो कि मैं अकिन्चन ज्ञानमात्र हूं। अपने आप को अकिन्चन अनुभव करने से जो अकिन्चन हो गए उनके प्रति भक्ति जगेगी। ये कौन है पंचगुरू? अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु। तो ये साधुजन जब चार घातिया कर्मों का नाश कर लें तो ये अरहंत कहलाते हैं। अरहंत, अरिहंत, अरहंत। जिन्होंने चार घातिया कर्मों को नष्ट कर दिया वे कहलाते हैं अरिहंत। अरहंत में अ मायने नहीं रूहंत मायने उगने वाले, अब अनन्त काल तक जिसके संसार के अंकुर अब नहीं उग सकते हैं ऐसे आत्मा को कहते हैं अरूहंत। अरहंत पूज्य, जो तीन लोक के द्वारा पूज्य है उसे कहते हैं अरहंत। तो यह अरहंतपद गुरूपद है। देखिये- यहाँ अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पांचों का अविशेषता रूप से वंदन किया है।

सिद्धपद की परमेष्ठिता- अब ध्यान में लावो कि अरहंत सिद्ध तो पूर्ण निर्दोष हो गए, उनमें अब दोष की गुंजाइश ही नहीं है। मगर आचार्य, उपाध्याय और साधु ये भी बहुत कुछ निर्दोष होते हैं यों पंच गुरूवों

में अरहंत प्रभु की वंदना करता है यह समाधिभक्त पुरूष। ये अरहंत वीतराग सर्वज्ञदेव, जब तक कि इनके साथ यह शरीर लगा हुआ हैं, ये विहार करते हैं, इनकी दिव्यध्वनि खिरती है, इनका उपदेश होता है। ये सब बातें होने पर भी वे वीतराग निर्दोष हैं और उनकी इस वीतरागता के प्रताप से जब चार अघातिया कर्म अपने आप समय पाकर नष्ट हो जाते हैं तो चार अघातिया कर्मों का सम्बंध था और देह का सम्बंध था, केवल 5 चीजों का ही सम्बंध रह गया, ये पांचों ही बातें एक साथ दूर हो जाती हैं। अब रह गए वे केवल आत्मा ही आत्मा। जहाँ विकार नहीं, जहाँ कर्म नहीं, जहाँ शरीर का सम्बंध नहीं, केवल आत्मा ही आत्मा रह गया वे कहलाते हैं सिद्ध परमेष्ठी। हम आपका निजी घर है सिद्धपद। इस पद के प्राप्त होने पर फिर वहां से हटना नहीं होता। जैसे वहां भी अपना निजी घर उसे ही समझा जाता है जहां से कोई हटा न सके। धर्मशाला में तो कोई ठहर जाय तो वह जब चाहे हटा दिया जा सकता है पर किसी को उसके अपने घर से कोई हटा नहीं सकता। तो इसी प्रकार यह सिद्धपद अपनी निजी गृह है। वहां से कोई हटा नहीं सकता। तो अपना एक यही प्रोग्राम बनना चाहिए कि मुझे तो अपना वह सिद्धपद प्राप्त करना है अर्थात् मुक्त होना है। हमें किसी से झगड़ा नहीं करना है। धर्म के नाम पर कुछ भी विवाद नहीं करना है। हाँ, जो सत्य बात है एक बार यों कह देना यह आत्मा की भक्ति कहलाती है। और उसे जानकर अगर कोई प्रकाश में भी आ जाय, उनका भला हो जाय तो मैं उनके इस कल्याण का विरोधी क्यों बनूँ? कह दिया, बता दिया मार्ग बड़ी शान्ति से, बड़ी सरलता से, लेकिन धर्म के नाम पर भी सामाजिक व्यवस्था के नाम पर भी हमें बकवास नहीं करनी है। दुनिया के समस्त पदार्थ उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक हैं, सबका अपने में अपना परिणमन होता है। किसी का किसी से कुछ नाता नहीं है। प्रभु के दर्शन करके हमें मिलता क्या है? हमें अपने आपके स्वरूप में लीन होने का उपाय ही तो मिलता है। यही एक सबसे जबरदस्त हमारा और प्रभु का नाता है, इस नाते के कारण जिस पुरूष की जिससे प्रीति होती है, जिस आत्मा का जिससे अनुराग जगा है वह उतना प्रबल हो जाता है। घर को तो छोड़ने को तैयार रहे, मगर पंचगुरूवों को छोड़ने के लिए तैयार न हो सके। यों समाधिभक्त संत समाधि में सफल हुए महान् आत्माओं का मैं वंदन करता हूं और वंदन करता हूं उन गुणों में इतना अनुराग हो जाता है कि उन पंचगुरूवों का ध्यान नहीं होता। उसका केवल एक उपयोग रहता है इन्द्रियज ज्ञानमय और उस समय कहा जा सकेगा कि अभेद वंदना, निश्चय वंदना अब किया है इस समाधिभक्त ने। यों समाधिभक्त समाधि के नाते से पंचगुरूवों की वंदना करता हुआ उन पंचगुरूवों के गुणों में अनुरक्त हो रहा है।

शान्ति के मार्ग में शान्तस्वरूप की श्रद्धा की प्राथमिकता- हम आप सब लोग सुख शान्ति चाहते हैं और उसके लिए लोग बड़ी हैरानी भी अनुभव कर रहे हैं पर सुख शान्ति मिलती नहीं। ये जितने भी धर्म के रूपक दिखाये जाते हैं उनसे हमें क्या शिक्षा मिलती है? जरा इस पर तो कुछ दृष्टिपात करो। इस जीव को मार्ग में ले जाने में कारण सर्वप्रथम श्रद्धा है। यदि श्रद्धा नहीं है तो कोई उस मुक्ति के मार्ग को तय न

कर सकेगा। प्रत्येक बात में आप यही पायेंगे कि श्रद्धा के बिना कोई काम नहीं बनता। व्यापार आदिक के कामों में भी जब आपको उनमें श्रद्धा है तो उन उन कार्यों को कर सकेंगे अन्यथा नहीं। अब आप सोचिये कि हमें चाहिए क्या? हमें चाहिए शान्ति। यदि पहिले से ही यह न सोचे कि हमें शान्ति चाहिए तो फिर शान्ति मिलेगी कहाँ से? शान्ति कहीं बाहरी चीज से न मिलेगी, शान्ति मिलेगी अपने आपसे। वह शान्ति मिलेगी कैसे? वह शान्ति मिलेगी अपने आपकी ओर झुककर। तो शान्ति का यह खुद धाम है, शान्ति का स्वरूप है। इसकी पहिले श्रद्धा करें तो शान्ति प्राप्त होगी अन्यथा नहीं। सुख कहाँ है? इस बात पर खूब विचार कर लो।

सुख न परिजनों में मिलेगा, न धन वैभव आदिक से मिलेगा, न अन्य किन्हीं बाह्य वस्तुओं से मिलेगा। सुख मिलेगा अपने आत्मस्वरूप के स्मरण से। जो वीतराग सर्वज्ञदेव हुए हैं, जिन्होंने परम शान्तिधाम को प्राप्त किया, वे हमारे लिए आदर्शरूप हैं। ऐसी श्रद्धा हुए बिना शान्ति नहीं प्राप्त कर सकते? तो मुझे बनना क्या है? इसका उत्तर पाने के लिए जिस पर दृष्टि जाय वही आदर्श कहलाता है। जैसे संगीत सीखने वाले लोग पहिले किसी प्रसिद्ध संगीत को लक्ष्य में रखकर उसके प्रति श्रद्धा रखते हैं, तब वैसा संगीतज्ञ बन पाते हैं। इसी प्रकार वीतराग सर्वज्ञदेव को लक्ष्य में रखकर, उनकी श्रद्धा करें तब हम आप शान्ति प्राप्त कर सकते हैं। वे प्रभु सम्यक्त्व की साक्षात् मूर्ति हैं, उनके समान आदर्श हमें यहाँ कहाँ मिलेगा? उस परमशान्ति के मार्ग में जो साधुजन चल रहे हैं उनकी हम आप उपासना करते हैं। वे गुरु कैसे है? वे हैं निर्विकार, निष्परिग्रह, समता के पुज्ज, जिनके पास पिछी, कमण्डल और शास्त्र इन तीन उपकरणों के अतिरिक्त अन्य कुछ भी परिग्रह नहीं है, केवल आत्मतत्त्व में ही जिनका श्रद्धान बना हुआ है, वे हमारे गुरु हैं, उनकी उपासना में लगें। तो इस आज के रूपक में हम आप यही शिक्षा ले रहे हैं कि हम आप सभी धर्म का पालन करें। इस धर्म के प्रताप से ही संसार के समस्त संकट टलेंगे। आप केवल दो ही भावनायें बनाये रहें तो दुनियावी समस्त झंझट छूटेंगे। एक तो यह श्रद्धा बनाये रहो कि मैं अकिन्चन हूं, मेरा जगत में कहीं कुछ नहीं है, सबसे निराला हूं, और दूसरी श्रद्धा यह बनाये रहो कि मुझमें केवल ज्ञान ही ज्ञान नजर आ रहा है। ज्ञान के सिवाय अन्य कुछ नहीं नजर आता। यह ज्ञान ही हमारे साथ जायगा अन्य कुछ नहीं। मैं सबसे निराला केवल ज्ञानमात्र हूं, यह प्रतीति यदि रहेगी तो संसार के संकटों से अवश्य ही पार हो जायेंगे। इस ज्ञान की वृद्धि के लिए जो स्वाध्याय, सत्संग आदिक उपाय बताये हैं उनके द्वारा अपने ज्ञान की वृद्धि करें और संसार के समस्त संकटों से छुटकारा प्राप्त करें।

स्वयं की यथार्थ श्रद्धा में संकटों से छुटकारा- हम आप सब कोई जानने देखने वाले पदार्थ हैं, और जो हम हैं, सो ही हम हैं जो आप हैं सो ही आप हैं। अपने से बाकी सब निराले हैं। सबसे निराला मैं एक जानने देखने वाला पदार्थ हूं। जिसको यह श्रद्धा नहीं है वह इस समय भी दु:खी रहता है और आगे भी जन्म मरण बढ़ायेगा। बात अगर ऐसी ही है तो श्रद्धा करने में कौनसी आपत्ति है? खूब निरख लो, इन

इन्द्रिय व्यापारों को बन्द कर अपने अन्दर परख लो कि मैं क्या हूं? जानने देखने वाला पदार्थ हूं और सबसे निराला हूं, अब इसके खिलाफ हम कुछ विचार बनाते हैं तो वहाँ आकुलतायें होती हैं। सत्य बात यह है, अन्यथा बतलावो कि अनन्त भव प्राप्त किए, उन अनन्त भवों की आज कुछ भी चीज साथ है क्या? क्या ये स्त्री, पुत्र, धन, सम्पदा आदिक उन अनन्ते भवों में साथ न थे? थे, पर आज वे साथ है कहां? इसी तरह जो समागम आज प्राप्त हैं वे भी कुछ समय बाद साथ न रहेंगे, क्योंकि वे मेरे हैं ही नहीं। तो अब वे क्या हमारे हैं? न पहिले थे, न आगे रहेंगे और अब हैं तो क्या हैं? खूब परख करके देखो। इसी के मायने हैं धर्म। यदि यह बात श्रद्धा में आ गयी तो यह धर्म संसार से नियम से पार कर देगा। जिनकी हम पूजा करते हैं ऐसे जिनेन्द्रदेव, सिद्ध महाराज, बस यही स्वरूप हमारा बन जायेगा, सदा के लिए संकटों से छूट जायेंगे पर यहां के समागमों में कोई लाभ न होगा। यदि सत्य श्रद्धा अपनी बनायें तो अपने आपको लगेगा कि मेरा आत्मा अमूर्त है, निर्भार है। अभी आत्मा के स्वरूप से बाहर दृष्टि जा रही है तो सारा बोझ लग रहा है। बड़ी आकुलतायें हो रही हैं, कुछ मार्ग नहीं दिखता है। और जिस काल अपने आत्मा की सच्ची सुध हो जायेगी कि मैं आत्मा सबसे निराला केवल जानन देखनहार हूं, ऐसी पक्की श्रद्धा हो जाय तो उसी समय आप बोझ से मुक्त हुआ सा अनुभव कर लेंगे। किसी के स्नेह में बहुत बड़ी चिंतायें शोक अनेक दबाव दिल पर हैं, किन्तु जिस काल में जान लिया जायेगा कि मेरा तो कुछ हैं ही नहीं, मेरा तो मात्र जानने देखने वाला यह मैं आत्मा हूं; बस आपका बोझ तुरन्त हट जायेगा। बात करने की यही है।

अन्त: स्वतत्त्व की उपासना के साहस में आत्मलाभ- भैया ! आपको अपने को अकिन्चन निर्भार अनुभवने में थोड़ी आपत्ति यह आयेगी कि गृहस्थ होने के कारण सदा तो यह भाव बना नहीं सकते, जिनका जो व्यवसाय है उनका अनेक लोगों से सम्पर्क रहेगा, उनके संग बोलचाल का व्यवहार रखना पड़ेगा वहां गृहस्थ उस भावना से चिग जायेगा। तो एक यह आपत्ति आती है, लेकिन हिम्मत बनाकर कोई अगर यह सोच ले कि मुझे किसी की दृष्टि में बड़ा नहीं बनना है। जिनकी दृष्टि में हम बड़ा कहलवाने की बात सोचते हैं वे स्वयं मोही हैं, मलिन हैं, कर्मों के प्रेरे हैं। उनके बीच बड़ा कहलवाने की बात सोचने से कुछ भी लाभ न मिलेगा। हां, यदि बड़े होवें तो अनन्त सिद्ध भगवान के ज्ञान में बड़े होवें, उससे हमें लाभ है। गाँवों में, जिलों में, देश में सबके बीच मैं बड़ा कहलाऊँ- इतनी इच्छा भर की कि वह धर्म के मार्ग से विमुख हो जायेगा। उसे फिर धर्म की प्राप्ति नहीं होगी। धर्म का लाभ तब है जब यह विश्वास हो कि मैं सबसे निराला हूं। धर्म के काम के समय धर्म की ही बात दृढ़ता से रखिये- रोजगार के समय रोजगार के काम में दृष्टि हो, लेकिन जब हमारी धर्म साधना की दृष्टि बनी हुई हो उस समय हम केवल धार्मिक भावनायें करें। कितने ही आज्ञाकारी स्त्री, पुत्रादिक हों, कैसा ही बड़ा सुन्दर व्यवहार रखने वाले पडौसी हों, सभी मुझसे अत्यन्त निराले हैं। कितने निराले जितने कि दुनिया के गैर जीव हैं। जब धार्मिकता की धुन में

आ रहे हों तो बड़ी दृढ़ता से ऐसा अपना पक्का निश्चय रखना चाहिए कि मैं आत्मा अमूर्त हूं, निर्भार हूं। इस अन्तस्तत्त्व की उपासना के प्रसाद से जो आत्मा निर्भार बनते हैं उनको चारणऋद्धि प्रकट होती है और वे अनेक प्रकार से आकाश में विहार करते हैं। उनका आत्मा निर्भार हो गया है और ऐसे विशिष्ट धर्म का, पवित्रता का अभ्युदय हुआ है कि वे आकाश में विहार करने लगते हैं। लोग तो यंत्र लेकर आकाश विहार कर सकेंगे, लेकिन जो ज्ञानमात्र अकिन्चन केवल ज्ञानज्योतिस्वरूप अपने आपका ध्यान करता है और उसकी धुन रखता है तो कुछ समय बाद उसमें चारणऋद्धि उत्पन्न होती है। ऐसे चारणऋद्धिधारी मुनिश्वरों का मैं वन्दन करता हूं।

श्लोक 11

अर्हमित्यक्षरं ब्रह्मवाचकं परमेष्ठिन:।

सिद्धचक्रस्य सद्बीजं सर्वत: प्रणिदध्महे।।11।।

अपने परमपद को भूलने से होती चली आई एक विडम्बना- लोक में सर्वोत्कृष्ट पद है सिद्धपद। अपने आपके आत्मा के नाते से आत्मा का विचार करें। यह जीव क्या करता आया है अब तक? जन्म में और स्वप्नवत् समागम पाकर उनमें रागद्वेष मोह किया, लड़ाई दंगे, झगड़े, चिंता, शोक किये। जैसे-जैसे जिन्दगी व्यतीत हुई, बस फिर मरण किया। फिर कहीं जन्म लिया। यों जन्ममरण की परम्परा करते चले आये। जैसे दूसरे के बारे में लोग सोचते रहते कि यह अच्छा रोजगार कर रहा है, यह अच्छा कामकाज चला रहा है, यह गरीब है, यह अमीर है आदि। तो यहां चाहे कोई भी हो, सभी एक बात करते हुए आ रहे हैं, जन्मे, दु:ख भोगे और मरे। कदाचित् जीवन में थोड़ा बहुत माना करता है यह जीव भ्रमवश कि मुझे बड़ा सुख है, लेकिन सुख कहां है? आकुलता तो साथ लगी है, खूब निरख लो। खूब कमा रहे हो, खेती अच्छी हो रही हो, घर भी अच्छा बना हो, भोजनपान की अच्छी सुविधा हो, फिर भी अनेक प्रकार के सम्मान अपमान आदिक के अनेक विकल्प बनाकर रात दिन दु:ख ही दु:ख भोगे जा रहे हैं। एक भ्रम से मान लिया कि हमें बड़ा सुख है, पर सुख काहे का और वह कल्पित सुख भी अगर स्थिर रहता तो भी कहते कि चलो भाई इसमें ही मस्त हो लो, लेकिन ये भी तो स्थिर नहीं रहते। खूब इन लौकिक सुखों की परख कर लो। कितने ही सुख इस जीवन में अब तक भोगे पर उन सुखों के बाद बुरे दिन अवश्य देखने पड़े होंगे और अब इन सुखों के भोगने वालों को आगे चलकर बुरे दिन देखने होंगे। इसमें रंच भी संदेह नहीं। यदि सुख भोगने में राग है, उन्हें अपना सर्वस्व समझा है तो निश्चित है कि दु:ख के दिन देखने होंगे। खूब सोच लो- ज्यादा से ज्यादा आराम और सुख के साधन जिस किसी को भी मिले हुए हैं- मान लो बड़े आज्ञाकारी परिजन हैं, पर वे बूढ़े न होंगे क्या? उनके शरीर के अंग शिथिल न होंगे क्या? होंगे वृद्ध, होंगे शिथिल, तब फिर उनके द्वारा प्राप्त सुख सदा बना रहेगा क्या? सदा तो न बना रहेगा। कोई

ऐसा तो नहीं कि खूब मौज मानकर सुख का स्टाक बना लिया है और अब वृद्धावस्था तक उस सुख को लूटते रहेंगे। यदि कुबुद्धि है तो यह निश्चित है कि संसार के सुखों में यदि आसक्त हुए तो नियम से खोटे दिन देखने होंगे। ज्यादा से ज्यादा एक भव की खैर हो जाय, लेकिन अगले जन्म में कोई साथ न देगा? यहां के कोई लोग मदद न कर देंगे। यहां जैसे जो कुछ भाव बनाया उसके अनुसार वहां फल भोगना पड़ेगा। तो संसार के ये प्राणी अब तक केवल एक ही काम करते चले आ रहे हैं- जन्म मरण करके दु:ख भोगना। आज भी उसी सिलसिले में वही एक काम है? कोई नया काम नहीं है। जन्मे थे, दु:ख भोगे, मौज की कल्पना में वहां भी दु:खी थे। समय गुजरेगा, मरण होगा, फिर जन्म होगा।

आत्मस्वरूप के यथार्थ विश्वास से इस मान व जीवन का साफल्य- अरे भाई ! इन समागमों को असार जानकर ये मेरे कुछ नहीं हैं ऐसा समझकर एक इस भव में ही सम्यक्त्व उत्पन्न कर लिया जाय, सच्चा विश्वास बना लिया जाय, अपने आत्मा में अपने आपके विराजमान सहज परमात्मतत्त्व के दर्शन तो कर लीजिए, अनुभव तो कर लीजिए। ये कोई लोग साथ न देंगे। आपका ज्ञान बन जायेगा, आपको सम्यक्त्व मिल गया, आपका धर्म आपको मिल गया तो वह सहायक होगा, अन्य नहीं जो जीव अब संसार से छूट चुके। जिन्हें सिद्ध कर रहे हैं वे भी हम आपकी तरह जन्म मरण की परम्परा के दु:ख भोग रहे थे, लेकिन उन्होंने कौनसा उपाय किया कि संसार के समस्त संकटों से सदा के लिए छूट गए? उन्होंने अपने आपकी श्रद्धा की। अपने आपकी बात रोज-रोज भी आप सुनें तो शब्द यद्यपि वे ही रोज-रोज कुछ हेर फेर के साथ बोले जाते हैं, कुछ थोड़े से नये शब्द आ जाते हैं, पर रोज-रोज आपको एक नई बात सी लगती है और दिल को शान्ति देने वाली बात लगती है। बात उतनी ही है, तत्त्व उतना ही है, आत्मा की बात कही जा रही है पर यह आत्मा का कथन आपको रोज स्वादिष्ट लगता है। अच्छा, हम आपसे एक बात पूछते हैं कि आप रोज-रोज अपने घर दाल, रोटी, चावल खाते है तो उससे आप ऊब जाते हैं क्या? आप तो रोज–रोज बड़ी रूचि से खाते हैं और रोज एक नया सा स्वाद लगता है। खाते–खाते न जाने कितने वर्ष बीत जाते हैं पर रोज–रोज एक नया स्वाद सा लगता है। ऐसे ही आपने मानो आत्मा की बात खूब दिल भरकर सुन ली, लेकिन आज आत्मा का नाम लेते ही दृष्टि अन्दर पहुंचती है और एक विचित्र आनन्द मिलता है। क्योंकि बीच में 22, 23 घंटे गुजर गए। जहां विषय साधन पाप आदिक में दृष्टि लगाई जिससे अपने आपको भूल गए और सुख है अपने आपके स्मरण में। उसका स्मरण आज हो रहा तो आज आनन्द मिल रहा है। तो आत्मा की बात जो सुनता और सुनकर भीतर जानना भी चाहता है, जान भी लेता है, उसकी जानकारी इतनी स्पष्ट हो जाय कि जब दृष्टि फिरे तब ही आत्मा का सुख साक्षात् निरख लें । इतना विशिष्ट अभ्यास बने तो उससे जीवन सफल है।

अपना सत्य शरण – धर्म का शरण ही एक सत्य शरण है बाकी तो सब मायारूप चीजें हैं। एक यह निश्चय रखिये और ऐसा ही परस्पर का वातावरण बनायें कि धर्म में रूचि जगे, धर्म की प्रीति हो, ऐसा

अगर कर सके तो आप सच्चे मित्र बने, दूसरे के सच्चे बंधु बने, अन्यथा तो ये स्त्री पुत्र पशुओं के भी हुआ करते, कोई खास बात नहीं है। रही एक धन वैभव इज्जत प्रतिष्ठा आदि बढ़ाने की बात तो ये तो सब अस्थिर चीजें हैं, इनको छोड़कर मरण करके चले गए, या ये खुद ही हमारे देखते–देखते ही नष्ट हो गए। या ये प्राप्त समस्त समागम बिछुड़ेगे अवश्य, इसमें कोई संदेह नहीं। तब फिर ऐसे असार संसार में हम क्या ऐसी मोह की, प्रमाद की नींद में सोये रहें? उससे मेरा उद्धार हो जायेगा क्या? अपने पुराण पुरूषों के जीवन चरित्र देख लीजिए। हनुमान, राम, तीर्थंकर आदिक अनेक महापुरूष हुए। उन्होंने जीवन में बड़े ठाठ बाट भोगे, जिनका एकक्षत्र राज्य रहा। बड़े-बड़े राजा महाराजा जिनके चरणों में झुकते रहे और अनेक देवों के द्वारा जो सेवित रहे, फिर भी उन्हें अपने जीवन में कुछ सार नजर न आया। बड़े–बड़े चक्रवर्ती, तीर्थंकर, आदिक को उनमें कुछ शान्ति न मिले और सब कुछ छोड़ छाड़ कर केवल आत्मतत्त्व की उपासना में रत हुये वहीं उन्हें शान्ति मिली। मूलत: समस्त कर्मों का विध्वंस किया और सदा के लिए संकटों से छूट गए। तो लोक में सबसे उत्कृष्ट पद है तो एक सिद्ध भगवान का है।

परम हितकारी सिद्धपद की प्राप्ति का आधारभूत् उपाय – परम हितकारी सिद्ध पद की प्राप्ति का उपाय क्या है? वह उपाय है आत्मा के सहजस्वरूप की दृष्टि होना। मैं हूं ना। हूं तो अपने आप हूं या पर की दया से हूं। खूब निर्णय कर लीजिए। आपका अस्तित्त्व है? है अपने आप है, दूसरे की दया के कारण नहीं। स्त्री पुत्र मित्रादिक के कारण आप की सत्ता नहीं। आप हैं अपने आप। जब मैं हूं और अपने आप हूं तो मैं स्वयं अपने आप। जो हूं बस उसे निरख लीजिए। इतनी ही बात है धर्मपालन के लिए। मैं जो कुछ हूं अपने आप केवल उसको निरख लीजिए। शरीर नहीं हैं आप जो रागद्वेषादिक विकार उत्पन्न होते हैं वे नहीं हैं आप। आपका सहज सत्त्व क्या है? केवल एक ज्ञानपुंज है जाननमात्र। केवल जानन मात्र के रूप में अपने आपको निहार लीजिए। मैं केवल ज्ञानमात्र हूं, सबसे निराला हूं। बात कुछ ठीक जंच रही है क्या? इस समय कुछ सही लग रही क्या? न लग रही हो तो फिर ध्यान दें, तिस पर भी न लगो तो बाहर की इन चीजों में मोह फंसा है, जिनसे लगाव लगा है, जिनको चित्त में बसाये हैं उनका ही सही–सही स्वरूप जान लें। यदि आत्मा के सहजस्वरूप की बात जानना कठिन लग रहा है तो जहां आप हैं, जिस बीच आप रहते हैं, जो आपके आसपास हैं उनका सच्चा स्वरूप आप जान लें। कब से साथ हैं। कब तक साथ रहेंगे और इस समय भी क्या कुछ मदद दे देंगे? सिर दर्द करने लगे तो उसमें भी मदद करने वाला कोई नहीं। तो जब इस दुनिया में कोई मददगार नहीं है तो मुझे किसी की क्या आशा करना? मैं अपने आप को देखूँ, ज्ञानमात्र अपने आपको अनुभवूँ और अपना कल्याण प्राप्त करूँ। यह काम करना है। अभी तक क्या काम करते आये? जन्मे मरे, दुःख भोगे। जन्म मरण की परम्परा बनाये रहे। इसमें कुछ सार नजर न आया तो अब क्या काम करना है? मैं अपने आप सहज जैसा हूं वैसा जानना है, वैसा दृष्टि में लेना है। बस यही काम करना हैं ।

आत्मपौरूष की ज्ञानसाध्यता - मैं अपने को जानूँ और उसमें मग्न होऊँ यह पराक्रम, यह ज्ञान ज्ञानसाध्य है। शुद्ध ज्ञान जगे, पवित्र ज्ञान जगे, आत्महित की भावना उठे कि इस संसार में मुझे किसी भी प्रकार नहीं रहना है, बड़े विषयों के साधन मिलें, उनके बीच भी नहीं रहना है। यह संसार रहने के लायक नहीं है। संसार का अर्थ यहाँ शरीर से है। ऐसे–ऐसे शरीर मिलते जाते हैं; इन शरीरों में मुझे नहीं रहना है, उनसे न्यारा मुझे बनना है। ऐसी एक भीतर में तीव्र आत्मीय भावना की बात तो जगायें। ज्ञान के द्वारा साध्य है यह बात कि अपने आपका जो सत्य सहज स्वरूप है उसके दर्शन हो सकते हैं। यह बात अगर कर ली गई तो समझिये कि जैसे धूल में हीरा होता है वह भीतर में जगमगाता हुआ, बड़ी कीमत रखता हुआ बडा़ महत्त्वशाली है। इसी तरह समझिये कि देहात में, गाँव में, किसी भी जगह रहते हुए हम एक शुद्ध ज्ञानरत्न हीरा है, सर्व श्रेष्ठ हैं यह बात अपने आप में पा लीजिए। कोई लोग बढ़ रहे हों दुनिया की निगाह में बड़ी प्रगति के साथ तो वे बढ़े, और योग्यता के कारण यदि इस तरह का हमारा बढ़ाव होता है सहज तो इसमें हमें कुछ हरज नहीं, लेकिन हमारी इन दुनियावी बढ़ावों से आस्था गिर गई, इनसे हमारा कल्याण होगा, यह बात कभी भी सम्भव नहीं। मेरा बढ़ाव, मेरा उद्धार, मेरा कल्याण मेरे अपने आपके जानने से और अपने आप में ऐसा समाते जाने से कि किसी भी पर–चेतन अचेतन का विकल्प न हो, लगाव न हो, मोह न रहे, ऐसी निर्मलता जगे, वहाँ हम आपका उद्धार है ।

ज्ञानतत्त्व का ज्ञान बनाये रहने के उपायों में प्रकृत एक उपाय – ज्ञान के जगने के लिए और भी अनेक उपाय किए जाते हैं– पढ़ना, स्वाध्याय करना, ध्यान जमाना, जाप जपना। यहाँ इस छंद में एक अर्हं, इस मंत्र के ध्यान के लिए दृष्टि दिलाई गई है। जैसे णमोकार मंत्र में णमो अरहंताणं, पढ़ते हैं तो इसमें अर्हं यह अक्षर आत्मस्वरूप का वाचक है। शुद्ध सहज अविकार प्रखर ज्ञानज्योति पिण्ड इस अंतस्तत्त्व का वाच्य है, उस अर्हं का जाप कीजिए। वह क्या है? साक्षात् ज्ञानज्योति पुंज। जैसे कि जिस चीज को हम रोज-रोज जानते हैं, चौकी, घड़ा, कोट आदिक, वे चीजें तो चीजें हैं ही किन्तु उनका नाम बोला जाय तो उस नाम में वही चीज समाई हुई दिखती है, ऐसा दृढ़ अभ्यास हो गया है इन बाह्य पदार्थों की जानकारी में। इन पदार्थों का नाम लेते ही नाम में वह पदार्थ समाया हुआ सा दिखता है। पत्थर का जो नाम है वह नाम लेते ही पत्थर रंगा हुआ सा है ऐसा चित्त में समाया हुआ है। तो अब यहाँ यह कह रहे हैं कि 'अर्हं' यह सहज परमात्मतत्त्व का वाचक है। अविकार ज्ञान पुंज का नाम है अर्हं। तो उस अर्हं नाम में ही वह ब्रह्मस्वरूप समाया हुआ है। मैं सम्पूर्ण आत्मा मेरी दृष्टि में आ गया हूं तो अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु याने समता परिणम में बढ़े हुए जीव। परमेष्ठी का और दूसरा कुछ अर्थ नहीं, जो राग द्वेष न करते हों, मोह, अज्ञान का अंधेरा जिनके नहीं है, जो ज्ञानज्योति स्वरूप आत्मतत्त्व की निगाह में निरन्तर बसे रहा करते हैं। उन आत्माओं का नाम है अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु। ये सब समाधि के नाम हैं, समाधि परिणाम के नाम हैं। समाधिभक्त पुरूष अपने आप में समाधि

परिणाम के जागृत करने के लिए जाप के द्वारा मंत्र के द्वारा, परमेष्ठियों के स्तवन के द्वारा, उनके ध्यान के द्वारा, अपने आपमें रागद्वेष मोह के अंधेरे को हटाकर अपने आपको ज्ञानप्रकाशमात्र अनुभूति में रखना चाहता है, यही एक मात्र सारभूत काम है। अपना यह ध्येय, यह लक्ष्य न छोड़िये। आप तीन लोक के अधिपति होंगे। यह वैभव तो क्या चीज है? सदा के लिए शान्त बन जायेंगे। यहाँ के सुख तो असार हैं। तो ऐसा जो आत्मा का सहज स्वरूप है उस स्वरूप में अपनी दृष्टि करें, उससे ही इस आत्मा को शान्ति प्राप्त होगी।

आनन्द की सहजता और क्लेश की कृत्रिमता- अपने आपमें अपनी अन्तर्दृष्टि से देखें तो विदित होगा कि दु:खी कोई नहीं है, लेकिन दिखने में बात यों आ रही हैं कि सभी लोग दु:खी हो रहे हैं, दु:ख की कहाँ गुंजाइश है? यदि सच-सच बात समझी जाय, अपने आप के ठीक स्वरूप की बात पहिचानी जाय तो दु:ख कहीं है ही नहीं। लोग इसमें दु:ख मानते हैं कि मेरी आय कम है अथवा यह मकान टूट गया अथवा शरीर में कोई रोग हो गया या पुत्र उल्टा चलता है– ये जो जो कुछ भी बातें मानते हैं उन्हें दु:ख का कारण मानते हैं, लेकिन ये दु:ख हुए हैं अपने आपके ऊधम से, दु:ख जरा भी नहीं है। तुम तुम हो, बाकी सब पर हैं, उनका ज्ञान में सम्बंध नहीं, न सदा साथ रहना है, न साथ कहीं से लाये हैं, बिल्कुल भिन्न द्रव्य हैं। उनको यहाँ भीतर में अपना रहे हैं कि ये मेरे हैं, ये मेरे कुछ हैं। इतनी सी बात मन में आयी कि दु:ख का पहाड़ सिर पर आ गया, भीतर देखो तो दु:ख है नहीं। स्वरूप में देखो तो कोई क्लेश का कारण नहीं। सब हैं, मैं भी हूं, इसमें कष्ट की कौन सी बात? लेकिन इस ममता पिशाचिनी ने इस जीव को परेशान कर दिया है। ममता हटे तो दु:ख अभी हट जाय। ममता नहीं हटती है तो उसे दु:ख बना रहता है, सिद्ध भगवान हुए हैं तो उनमें और बात क्या आयी है? विकार सब हट गए, प्रभु बन गए, जिनकी हम पूजा करते हैं उनमें और बात क्या आयी? वे निर्विकार हो गए, बस निर्मोहता की बात यहाँ भी देख लो, गाँव में पड़ोस में जो पुरूष निर्मोह होता है उसकी और सबका आकर्षण होता है। तो निर्मोहता पूज्य है और निर्मोहता में क्लेश नहीं है। मोह करके हम अज्ञान बढ़ाते हैं, अपने को दु:खी करते हैं, दूसरे को दु:खी करते हैं, दूसरे को दु:खी कर डालते हैं।

गृहस्थ में निर्मोहता की संभवता- आप कहेंगे कि यह तो बड़ी कठिन बात है। गृहस्थी में रहकर भी क्या मोह हटाया जा सकता है? हाँ, गृहस्थ भी मोह से दूर रह सकते हैं। घर में रहकर भी घर की सारी व्यवस्थायें बनाये, मोह न करे यह बात सम्भव है, क्योंकि मोह नाम है अज्ञान का। जहां निज और पर का सही ज्ञान नहीं हैं बस वहां मोह है और जहां यह बोध हो गया कि मैं ज्ञान मात्र हू, सबसे निराला हूं, केवल ज्ञान ज्योति पिण्ड हूं, ऐसा अगर ज्ञान में आ गया तो फिर वह तो ज्ञान में आ ही गया। अब उसे मेटें कैसे? वह तो ऐसा ही ज्ञान में रहेगा, अब उसको मोह कहां से आये? मोह नाम प्रेम का नहीं है, मोह नाम है स्व और पर में अन्तर न समझने का। प्रेम को राग कहते हैं। गृहस्थी में रहकर राग नहीं छोड़ा जा

सकता। राग छूट जाय तो गृहस्थी में रहे नहीं, पर मोह छूटकर भी गृहस्थी में रह सकते हैं और जहां मोह छूटा वहां आकुलता की जड़ तो मिट गई। जिस किसी भी समय कैसी भी विपत्तियाँ आयें, उन विपत्तियों के बीच भी यह धैर्यवान् रह सकता है। जहां इसने अकिञ्चन ज्ञानमात्र अपने आपके स्वरूप की झलक की, बस सारे संकट तुरन्त बिदा हो जाते हैं।

निर्मोह गृहस्थ की महिमा- निर्मोह गृहस्थ की तो ऐसी महिमा बताई गई है कि निर्मोह गृहस्थ तो मोक्षमार्ग में है, पर मोही मुनि मोक्षमार्ग में नहीं है। मोह करने के अनेक ढंग हैं, पर मूल में एक ही ढंग है। अपने आपकी पर्याय को, परिणमन को, विकृत परिणमन को 'यह मैं हूं' ऐसी जहाँ दृष्टि गई बस मोह कहो, मिथ्यात्व कहाँ, अज्ञान बन जाता है। जिन्होंने घर छोड़ दिया, धन छोड़ दिया, जंगल में रहते हैं ऐसे साधुजनों की बात नहीं कह रहे, किन्तु जिनके मिथ्यात्व लगा है, कौन सा मिथ्यात्व लगा है? मैं मुनि हूं, मुझे इस तरह रहना चाहिए, ऐसा तपश्चरण करना चाहिए, मुझे किसी से राग द्वेष न करना चाहिए, मुझे जीवदया पालना चाहिए आदि इस प्रकार की बातें यद्यपि ठीक हैं लेकिन अन्दर में विष तो देखिये- वह यह ज्ञान नहीं कर पा रहा है कि मैं तो एक अमूर्त ज्ञानज्योतिमात्र हूं, मुनि की यह एक परिणति है, बीच में आयी है। यह मैं नहीं हूं, यह तो एक स्थिति है, मैं तो एक शुद्ध ज्ञानमात्र हूं, यह भाव नहीं बन पाता है पर्याय में आत्मदृष्टि रहती है जिससे वह मुनि संसार में रूलता है और एक गृहस्थ जो घर गृहस्थी के बीच रह रहा हो और यह भावना रख रहा हो कि मेरा तो ज्ञानस्वरूप है, मेरा मात्र ज्ञानानन्दस्वरूप है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है, ऐसी जिसकी प्रतीति रहती है वह गृहस्थ स्त्री पुत्रादिक के बीच रहकर भी स्त्री से बोलता हुआ भी नहीं बोलता, बच्चे को गोद में खिलाता हुआ भी नहीं खिला रहा है।

गृहस्थ सम्यग्दृष्टि की अन्तर्वत्तिका एक दृष्टान्त – एक सेठ का कोई दो तीन वर्ष का बच्चा था। सेठानी गुजर गयी थी और कोई घर में था नहीं। सेठ भी मरणासन्न दशा में था। उसके पास कई लाख की जायदाद थी। तो उस सेठ ने अपनी सारी जायदाद ट्रस्टियों को सौंप दी और कह दिया कि मेरा बालक अभी छोटा है, जब 18-20 वर्ष का बालिग हो जाय तो इसको सारी जायदाद सौंप देना। सेठ तो मर गया। वह दो तीन वर्ष का बालक सड़क पर खेल रहा था। वहां से एक ठग निकला। उसके कोई संतान न थी तो वह उस बच्चे को अपने घर उठा ले गया। उसका घर था जंगल में। ठगनी भी उस बच्चे को पाकर बड़ी प्रसन्न हुई। उस बच्चे को पाल–पोस कर तैयार किया। जब वह करीब 15 वर्ष का हो गया तो एक दिन उसी नगर में आया तो कुछ ट्रस्टियों ने उसे पहचान लिया और कहा कि देखो– बेटे अब तुम सयाने हो गए, अपनी जायदाद संभालो, हम कब तक संभालेंगे? वह सुनकर आश्चर्य में पड़ गया। सोचा कि हमारी जायदाद तो वह हैं जो जंगल में है। ये लोग तो हमें बहका रहे हैं। जब कई ट्रस्टियों ने बार–बार समझाया तो उसने सोचा कि ये सब देने देने की ही तो बात कह रहे हैं, सो उस लड़के ने कहा– अच्छा ठहरो, हम कुछ दिन बाद आकर अपनी जायदाद संभालेंगे। वह बालक पहुंचा जंगल में और उस

ठगनी के पैरों में गिरकर बड़े आर्तस्वर में कहने लगा–मां ! सच बताओ ! मैं किसका बेटा हूं? तो उस समय उस ठगनी के मुख से सहसा ये शब्द निकल पडे कि बेटे ! तू तो अमुक नगर के अमुक सेठ का लड़का है। लो इतनी बात सुनते ही उस बालक के चित्त में स्पष्ट बात आ गई, पहिले भी कुछ ट्रस्टियों ने कह रखा था, अब यहां जिनमें फंसा था, जिसे अपनी माँ मानता था उस माँ ने भी बता दिया। अब उसे सही ज्ञान हो गया। ओह ! मैं अमुक नगर के अमुक सेठ का लड़का हूं मेरी लाखों की जायदाद है, इतना ज्ञान हो जाने पर भी क्या वह उस ठगनी को मां अथवा ठग को पिता न कहेगा? अथवा उस ठग के खेत, मकान आदि थे क्या उनको अपनी जायदाद न कहेगा? जो पहिले से कहता आया वह तो कहेगा, कोई उसके खेतों में पशु पक्षी नुकसान करें तो उन्हें भी वह हटायेगा, ठग को पिता तथा ठगनी को मां कहेगा, इतने पर भी उसका चित्त तो बिल्कुल बदल गया। उसे तो अपनी लाखों की जायदाद का पता हो गया।

सम्यग्दृष्टि की अन्तर्वर्तना का आरम्भ- उक्त दृष्टान्त की भांति ठीक यही हाल है सम्यग्दृष्टि पुरूष का। जब तक वह नाबालिग था तब तक इस शरीर को 'यह मैं हूं' ऐसा मानता था, लोक में जिन्हें माता–पिता माना जाता हैं उन्हीं को अपने माता पिता समझ रहा था। इस मान्यता में उसका जीवन बड़ी दीन दशा में गुजर रहा था, इतने में कुन्दकुन्दाचार्य आदिक ट्रस्टी आकर समझाते हैं कि ऐ अबोध बालक ! तेरी तो अनन्त जायदाद है, तू क्यों भ्रमवश दीन बनकर दु:ख सह रहा है। अरे तू अब अपनी उस जायदाद को संभाल। भैया ! हम आप लोगों का कितना अच्छा सौभाग्य कहा जाय? वीतराग ऋषि संतों की वाणी हम आप को मिली हुई है। उस वाणी में ऐसा तत्त्व का विवेचन है कि उसको यदि कोई परख ले तो उन ऋषि संतों का ऋण वह जीवन में चुका नहीं सकता। तो उन ऋषिजनों की वाणी सुनकर वह स्वाध्याय करने वाला सोचता है- ओह ! मेरी जायदाद तो वह है। दूसरे ग्रन्थों का उसने स्वाध्याय किया। अनेक संतों ने वही बात समझाई। अब तो उसको सही बात समझ में आ गयी। सोचा कि ये ऋषिजन हमको आनन्द पाने का उपाय ही तो बता रहे हैं, ठीक ही तो ये कह रहें हैं। जिस विचारधारा में वह स्वाध्याय करने वाला पुरूष चल रहा था, उसी विचारधारा में ज्ञानानुभूति माँ से वह पूछता है कि सच बताओ कि मैं क्या हूं? किसका हूं? कैसा हूं? तो वही अनुभूति मां तुरन्त जवाब देती है कि तू तो यह है। लो उसे तुरन्त ज्ञानप्रकाश हो गया। अब यद्यपि वह घर गृहस्थी के बीच रह रहा है, जिन्हें अपने माता पिता कहता आया है उन्हें माता पिता भी कहेगा। उस जायदाद को अपनी जायदाद भी कहेगा, उसकी रक्षा भी करेगा, इतने पर भी उसकी दृष्टि तो अपने अनन्त आनन्द के स्वरूप पर है। तो यह गृहस्थी के बीच ऐसी स्थिति हो सकती कि मोह न रहे, राग बना रहे क्योंकि मोह तो अज्ञान को कहते हैं। अज्ञान मिटा लीजिए, इसमें आपका क्या जाता है? सच्चा ज्ञान तो हर कोई करना चाहता है। अभी कोई थैला लेकर आ जाय तो उसके अन्दर क्या चीज है इसकी जानकारी किए बिना चैन नहीं पड़ती। बच्चों की तो प्राय: करके यह

आदत होती ही है। तो जैसे आप बाहरी बातों की जानकारी करने के लिए उत्सुक रहा करते हैं, वैसे ही अपने आपके बारे में जानकारी करने लगिये कि मैं क्या हूं? इस जानकारी के लिए स्वाध्याय कीजिए, स्वाध्याय करके मोह ममता को हटाकर अपना उद्धार कर लीजिए। इसी से इस जीवन की सफलता है।

श्लोक 12

कर्माष्टकविनिर्मुक्तं मोक्षलक्ष्मी निकेतनम्।

सम्यक्त्वां दिगुणोपेतं सिद्धचक्रं नमाम्यहम्।।12।।

ज्ञानी ऋषि संतों का परम इष्ट- ज्ञानी पुरूष को केवल समाधिभाव ही इष्ट है। रागद्वेष की तरंग न उठकर केवल जानन देखनहार बने रहना, वीतरागता, समता बनी रहना, यही मात्र उसको प्रिय है। वह जानता है कि अज्ञान में किसी प्रकार की कषाय जगी, किसी वस्तु में राग उठा, किसी वस्तु के प्रति विरोधभाव जगा तो उसमें मेरी ही बरबादी है। इस कारण ज्ञानी पुरूष को केवल समताभाव ही प्रिय है और समता भाव में ही उसका निर्णय है कि मेरा उद्धार कर सकने वाला कोई है तो मेरा समता परिणाम है। समता परिणाम से स्वयं को भी बड़ी शान्ति मिलती है और वातावरण में आये हुए प्राणियों को भी शान्ति प्राप्त होती है। रागद्वेष का उतना प्रभाव नहीं जितना कि समता का। समता में एक अलौकिक प्रभाव है। जिस समय श्रैणिक राजा ने एक मुनिराज के गले में मरा हुआ सांप डाल दिया द्वेषवश, तीन दिन बाद श्रेणिक ने अपनी चेलना रानी से कहा कि हमने तुम्हारे गुरू के गले में मरा हुआ सांप डाला था तो चेलना कहती है तुमने बड़ा पाप का बंध किया।.. अरे-अरे वे तो मुनि किसी समय भी सांप को फेंककर भाग गए होंगे ऐसा श्रेणिक ने कहा। तो चेलना कहती है कि यदि वह वास्तविक जैन गुरु हैं तो उसे उपर्सग जानकर वहीं के वहीं विराजे होंगे, दोनों देखने के लिए चले तो देखा कि गुरु वहीं के वहीं विराजे थे। श्रेणिक के चित्त में एकदम परिवर्तन हुआ और अपने पापकर्म पर बड़ा पछतावा हुआ। श्रेणिक सांप को उठाकर निकालने को था कि चेलना ने उसे रोक दिया। इस तरह न उठाया जायेगा यह सांप, देखो इस सांप पर चींटियां चढ़ी हुई हैं, तो पहिले नीचे शक्कर बिखेर दी, वे सारी चींटियां शक्कर की गंध से नीचे उतर आयी तब सांप को धीरे से उतार दिया। जब मुनिराज ने ध्यान छोड़ा और सामने खड़े हुए उन दोनों को देखा तो कहा- उमयो धर्मबुद्धिरस्तु, तुम दोनों को धर्म बुद्धि हो। तो अब श्रेणिक पर और विकट प्रभाव पडा़ कि देखो- मैं उपद्रव करने वाला और यह चेलना उपसर्ग के दूर करने वाली, फिर भी इन साधु महाराज की दृष्टि हम दोनों पर एक समान है। न इनको चेलना से राग है और न हमसे विरोध। उस समय श्रेणिक का इतना विशुद्ध परिणाम हुआ कि सम्यक्त्व जग गया। संसार के संकट सदा के लिए टाल देने का निर्णय बना लिया। समतापरिणाम में इतना बड़ा प्रभाव है। स्वयं को भी शान्ति मिलती है, दूसरों को भी। भैया ! यदि कल्याण चाहते हो तो सदा यह प्रयत्न रखना चाहिए कि मेरे कषाय न जगें। कषायें मंद रहें

और दृष्टि यह रहे कि यह कषायें ही जीव का अनर्थ करने वाली हैं। यह मोह जीव का अनर्थ करने वाला है। यह मोह भाव विकार है, नष्ट हो जाने वाला है। इससे मुझे प्रीति नहीं करनी चाहिए।

समाधिभक्त द्वारा समाधिमूर्ति का वन्दन- समाधि परिणाम का भक्त पुरूष यहाँ समाधि की साक्षात् मूर्ति, समाधि के साक्षात् पुंज सिद्ध भगवान का वंदन नमस्कार कर रहा है। मैं सिद्ध समूह को नमस्कार करता हूं। यहाँ सिद्ध चक्र शब्द दिया है। चक्र मायने समूह है, जैसे सिद्धचक्र विधान, याने सिद्ध के समूह की पूजा। तो मैं सिद्धचक्र को नमस्कार करता हूं। कैसे है वे सिद्ध प्रभु, अष्टकर्मों से रहित। इस जीव के साथ अष्टकर्मों का उपद्रव लगा हुआ है। यहाँ थोड़ा सा साधन पाकर उसमें मौज माना जाता है। बड़ी भारी मूढता है, एक तो यह मौज की चीज नहीं है, और कुछ मौज भी हो कल्पित तो ये दो दिन की बातें हैं और जितने दिन मौज मिला हुआ है उतने दिन भी निरन्तर सुख नहीं है। एक दिन में 100 बार अगर सुख होता है तो 100 बार दु:ख भी होता है। चौबीस घंटे में कई बार तो यह जीव कुछ मौज सा मानता है लेकिन उससे अधिक यह दु:ख का भी सामना करता है जहाँ आरम्भ और परिग्रह साथ लगे हैं तो वहाँ दु:ख के साधन विशेष हैं, सुख का साधन कम है। यह सब क्यों हुआ? कर्मोंदय से। तो यहाँ की थोड़ी विभूति मौज पाकर हम यह न मानें कि हम कृत्कृत्य हो गए, मुझे सब कुछ मिल गया, अब हमें क्या करना है? हमसे बड़ा कौन है? यह बात बिलकुल भ्रम की है, कुछ नहीं मिला है। जो मिला है वह दु:ख का हेतुभूत है, हमारी बुद्धि को बिगाड़ने का कारण है, इस सम्पदा से मेरा पूरा न पड़ेगा। मेरा पूरा तो सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र से पड़ेगा। अपने आपके आत्मा के स्वरूप में सत्य श्रद्धा हो, अपने आपके स्वरूप का ज्ञान हो और अपने आपमें रमने का काम हो तो शान्ति मिलेगी। इस शान्ति को नष्ट करने का कारण निमित्त है अष्टकर्म। प्रभु अष्टकर्मों से रहित हैं। अत: शान्ति समाधि के वे घनीभूत पुंज हैं।

कर्मनिष्पत्ति- अष्टकर्म हैं- ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अंतराय। जब यह जीव कषायभाव करता है तो उस ही समय में इस जीव के साथ लगी हुई उम्मीदवार जो कामार्णवर्गणाएं हैं वे तुरन्त कामार्णवर्गणा रूप बन जाती हैं। कोई मनुष्य पाप करे और ऐसा विश्वास रखे कि मुझे कोई नहीं देखता, मेरे पाप को कोई नहीं जानता। मैं तो दुनिया के लिए भला ही हूं, लेकिन यह तो देखिये कि जिस समय में कषाय भाव हुआ, पाप परिणाम हुआ उसी काल में कितना खोटा कर्म बँध गया इसे कोई रोक दे तब जानें। तो किसी भी जगह हो, हमें पाप से भय करना चाहिए, किसी के दिल को दु:खाने का मेरा परिणाम भी न हो। किसी को मारा पीटा, उससे पाप बन्ध हुआ तो मारने पीटने से नहीं हुआ, किन्तु मारने पीटने का भाव भी साथ में लगा हुआ है। उस भाव से पाप का बंध हुआ। तो फिर यदि कोई पुरूष मार पीट भी न पाये और मार पीट का भाव बना ले तो उसे पाप का बंध हो जायेगा। इससे भाव ही हमारे खोटे न जगें, ऐसा अपने आपका यत्न रखना चाहिए। किसी की झूठी गवाही दी,

झूठ बोला, झूठ कोई बुरा नाम लगा दिया तो वहाँ जो परिणाम बिगाड़ा उस परिणाम से उसके कितना पाप का बंध होता है? उसके उदय में दु:ख कोई दूसरा न भोगेगा यही, तो किसी की झूठी बात कहना, निन्दा करना, चुगली करना, अपयश करना आदि ये बहुत खोटे भाव हैं। इनमें जो पापकर्म बँध जाते हैं उनके उदय में बहुत दुर्गति भोगनी पड़ती है और दुर्गति तो वह तत्काल भोग लेता है जिस समय वह झूठ बात कहता है, उसका दिल कमजोर होता है, वह चिन्ता और शोक से आकुल व्याकुल रहता है। तो ऐसे ही किसी भी ढंग से चोरी करने का परिणाम आया, दूसरे का धन अन्याय करके, दंगा करके हड़प लेवे तो वे सब चोरी के ही भेद हैं। तो चोरी करने का भाव करने मात्र से जो अपने आपमें उम्मीदवार कामार्णवर्गणायें बैठी हैं वे कर्मरूप बन जाती हैं। तो यह भी कितनी कठिन बात है? याने कर्म जो बंधे वे कहीं बाहर से लाने पड़े हों, यह बात नहीं हैं, किन्तु जीव के साथ जो कर्म बँधे वे भी रहते हैं और जो कर्म बँधने के उम्मीदवार हैं वे भी अनन्त वर्गणायें इस जीव के साथ बनी रहती हैं। जहाँ भी खोटे परिणाम किए वहाँ भी इस जीव को यह कर्म बँध जाते हैं। कुशील परिणाम पुरूष स्त्री को देखकर बुरा भाव मन में लाये अथवा स्त्री किसी पुरूष को देखकर मन में बुरे परिणाम लाये, कामभाव लाये तो उस परिणाम से तत्काल खोटे कर्मों का बँध हो जाता है और उस कर्म के उदय में फिर इस जीव को बड़ी दुर्गति सहनी पड़ती है। इसी तरह परिग्रह पाप है, तृष्णा करना, खूब धन आता है फिर भी उसकी चिंता रखना, इस भाव से विकट पाप का बंध होता है। कोई यह न जाने कि मैं राजा का अपराध नहीं करता, देश का अपराध नहीं करता, किसी प्रकार का दूसरे पर अन्याय नहीं करता, सिर्फ अपना धन बढ़ाने की बात सोच रहा हूं, किसी पर कोई उपद्रव तो नहीं ढा रहा हूं, लेकिन इस परिणाम में भी पाप का बंध है, अज्ञान का पोषण है। जब बाह्य में कुछ भी पदार्थ मेरे नहीं हैं तब इन दृष्यमान् पदार्थों के संचय का भाव बनाये, इसमें तो वह अपने आत्मा को भूल गया, परमात्मस्वरूप को तो भूल गया, उसको शान्ति कहाँ है? विकट कर्म का बन्ध है। तो ये ही कर्म बँधे हुए हैं जिनके उदय में जन्म मरण करना पड़ता है, दु:खी रहना पड़ता है। प्रभु ऐसे सब कर्मों से पूर्णतया रहित हैं। ये ही विस्रसोपचय कार्माण द्रव्य जब कषायभाव करने से, मोहभाव रखने से फल देने की प्रकृति बन जाती है, उसके नाम पर कर्म के 8 भेद बताये गए हैं।

ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म- ज्ञानावरण यह जीव के ज्ञान पर आवरण करता है। जीव है ज्ञानस्वरूप। जीव का शुद्ध कार्य है जानना। जैसे अग्नि का स्वरूप है गर्मी, गर्मी मिट जाय तो अग्नि रहेगी क्या कुछ? गर्मी न रही तो आग न रही। तो गर्मी आग का अभिन्न स्वरूप है। उस ज्ञान को जो प्रकट न होने दे ऐसा निमित्तभूत हुआ। जिस कर्म के उदय से ज्ञान प्रकट न हो सके उसको कहते हैं ज्ञानावरण कर्म। इस जीव में जानने का स्वभाव है। इन आँखों वोजक से इन आंखों से जानता हूं ऐसी बात नहीं। हां, थोड़ा निमित्त सहयोगी कारण तो है लेकिन यह आत्मा अपने ज्ञानस्वरूप के द्वारा ही ज्ञान किया करता है। जहां इन्द्रिय ज्ञान मिटा, कर्मोंदय मिटा ज्ञानावरण नष्ट हुआ वहां यह कितना जानेगा? उस जानने की

कोई हद नहीं रहती। जो भगवान हो गये, वीतराग सर्वज्ञदेव हो गए उनका ज्ञान अपने आप इतना विशाल हो जाता कि तीन लोक तीन काल में जो कुछ भी है, भूत में जो कुछ हुआ, भविष्य में जो कुछ होगा, समस्त पदार्थ उनके ज्ञान में स्पष्ट झलकते हैं। तो ऐसे असीम, ऐसे महान् ज्ञान को भी जो कर्म आवरण किए हुए हैं, वे कर्म हम पर लदे हुए हैं, तो हम आप पर यह कितनी बड़ी भारी विपत्ति है? दर्शनावरण के उदय से आत्मा में दर्शनगुण प्रकट नहीं होता। दर्शन के मायने यह है कि जैसा आत्मा का सही स्वरूप है उस स्वरूप के रूप में एक सामान्य झलक आ जाना। तो उस दर्शन को जो कर्म ढांके है, जिस कर्म के उदय से दर्शन प्रकट नहीं हो पाता, ऐसे जो दर्शनावरण कर्म हम आप पर लदे हैं यह हम आप पर विपत्ति है।

वेदनीय कर्म- वेदनीय कर्म के उदय से सुख और दु:ख पैदा होते हैं, संसार में जो ये विषयों के सुख हैं ये वेदनीय कर्म के उदय से हुए, तो कर्म के उदय में जो बात हुई वह भली हो ही नहीं सकती। तो यह इन्द्रियजन्य सुख दु:ख रूप है, आत्मा को शान्ति के कारणरूप नहीं है। इन सुखों में कितना अनर्थय है? इन्द्रिय सुखों के साथ आप बारीकी से विवेक के साथ निर्णय करें। निरन्तर दु:ख लगे हुए हैं, झंझट तो निरन्तर साथ हैं। इन इन्द्रिय सुखों में एक क्षण को भी क्षोभ न रहे ऐसी स्थिति नहीं है। खूब परख कर लो। भोजन करते समय जो आनन्द लूटा जा रहा है, जिसमें बड़ा मौज माना जा रहा है उसमें भी देख लो, इसके भीतर में क्षोभ पड़ा हुआ है कि नहीं? उसी क्षोभ के कारण हाथ चलता है। जल्दी–जल्दी सुख चलता है। कौर पूरी तरह चबा भी नहीं पाते हैं कि उसे गुटकने की पड़ जाती है। कहाँ-कहाँ निगाह रहती है? जो सामान बन रहा है उस सामान को देखकर अच्छा भोजन बन रहा है? यों न जाने कितने क्षोभ मचाये जा रहे हैं? स्पर्शनइन्द्रिय के विषय सुखों की बात देखो उसमें भी निरन्तर क्षोभ बना रहता है। कोई रूप देख रहे हों जो बड़ा सुहावना लग रहा हो, तो उस रूप के देखने के काल में भी चैन नहीं, क्षोभ पड़ा हुआ है। राग भरे शब्द सुनते हुए में भी सुनने वालो को चैन नहीं पड़ती, उसमें भी क्षोभ बना रहता है। प्रतिष्ठा, नामवरी कीर्ति फैलने की बात, इनमें भी निरन्तर क्षोभ चलते रहते हैं। तो संसार के सारे सुख क्षोभ से भरे हुए हैं। लोग तो यों कहते हैं कि थोड़े समय को सुख होता है, बाद में बहुत दु:ख होता है, लेकिन बात यह है कि थोड़े समय को भी सुख नहीं मिलता है, उस सुख के साथ क्षोभ लगा हुआ है। तो वेदनीय कर्म के उदय से जो सुख होता है सो भी आकुलता है और जो दु:ख होता है सो भी आकुलता है। तो ऐसी आकुलता का कारणभूत जो वेदनीय कर्म है वह हम पर विपत्ति है।

मोहनीय कर्म की विडम्बना- मोहनीय कर्म यह जीव अपने सही स्वरूप में न रह सके, अपने यथार्थ स्वरूप का भान न कर सके और सुख में मस्त रहा करे, इन सबका कारण यह मोहनीय कर्म है। मोह के उदय में जीव की बुद्धि उलट जाती है और इसे खोटा पथ सुखदायी मालूम होता है। यह बैचेन रहा करता है। तो मोहनीय कर्म हम आप पर लदे हुए हैं, यह हम आप पर बड़ी विपत्ति है। जैसे लड़ने वाली सारी

सेना की जान राजा है, राजा के बल पर ही सेना अपना बल दिखाया करती है। इसी प्रकार 8 कर्मों का राजा मोहनीय कर्म है। मोहनीय कर्म के बल पर ही ये 7 कर्म अपना नाच नचा पाते हैं। जब मोहभाव है तब सब प्रकार के संकट इस जीव पर आ गए। जब मोह नहीं रहता तो ये कर्म भी बिदा होने लगते हैं। इन कर्मों में भी दम नहीं रहती और यह संकट भी दूर होने लगते हैं। इसी कारण आप जानते होंगे कि इन 8 कर्मों में सबसे पहिले मोहनीय कर्म नष्ट होता है तब बाद में 7 कर्म नष्ट होते हैं और मोहनीय कर्म के भी दो भेद है- दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। जो आत्मा का श्रद्धान बिगाड़ दे उसका नाम है दर्शनमोहनीय और जो आत्मा को आत्मा में न समाने दे, न ठहरने दे, चारित्र को बिगाड़ दे उसे कहते हैं चारित्रमोहनीय। इन दो कर्मों में दर्शन मोहनीय, चारित्र मोहनीय इन दो में प्रबल है, भयंकर है दर्शनमोहनीय, जो श्रद्धा को ही बिगाड़ दे। जहां उल्टी बात मन में हो वहां फिर वह सीधा काम कर ही न सकेगा। देह को 'यह मैं हूं' इस प्रकार मानना यह दर्शन मोहनीय का काम है। जब इस जीव ने शरीर को आत्मा मान लिया तब यह कोई सा भी काम सीधा नहीं कर सकता जो भी काम करेगा सब उल्टा। जो भी व्यवस्था बनायेगा वह सारी उल्टी-उल्टी बनायेगा, जिससे जीव की बरबादी है। जन्म मरण की परम्परा बढ़े, ऐसा ही काम करेगा दर्शनमोह के उदय में।

दृष्टान्तपूर्वक दर्शनमोहनीय की विडम्बना का प्रदर्शन- एक बुढ़िया के दो बालक थे, तो एक बालक को मोतियाबिन्द हो जाने से या फूली पड़ जाने से बहुत कम दिखता था और एक लड़के को दिखता तो बहुत तेज था पर पीलिया का रोग हो जाने से सब कुछ पीला दिखता था। अब वह बुढ़िया मां अपने दोनों बेटों का इलाज कराने के लिए वैद्य के पास गई। वैद्य ने उन दोनों बालकों के नेत्र देखकर कहा- मां हम तुम्हारे दोनों बेटों की दवा करेंगे, इन दोनों बालकों के नेत्र ठीक हो जायेंगे। अच्छा ठीक है। वैद्य ने कहा- देखो, यह सफेद मोतीभस्म है, इस दवा को चाँदी के गिलास में गाय के दूध में मिश्री में मिलाकर इन दोनों बालकों को पिला देना। थोड़े ही दिनों में तुम्हारे इन दोनों बालकों का नेत्र रोग दूर हो जायेगा। बुढ़िया दवा लेकर घर आयी। घर पर जब दवा देने लगी तो जिस बालक को कम दिखता था उसने उस दवा को पी लिया और जिसे उल्टा दिखता था अर्थात् जिसे पीलिया का रोग था उसने देखा कि मां पीला गिलास लायी, उस पीले गिलास को देखकर मां से बड़ा द्वेष जगा, सोचा कि वैद्य ने तो चांदी के गिलास में दवा देने को कहा था, पर यह तो हमें पीतल के गिलास में दवा दे रही है। जब उस गिलास में उस बुढ़िया ने दूध डाला तो उस बालक को और भी उस मां से द्वेष जग गया। सोचा ओह ! वैद्य ने तो दूध में इस दवा को देने के लिए कहा था, पर यह तो गाय भैंस के मूत्र में दवा दे रही है। जब बुढ़िया ने मिश्री मिलाया तो उस बालक को अपनी मां से और भी अधिक द्वेष जग गया। सोचा ओह ! वैद्य ने तो मिश्री मिलाने को कहा था, पर यह तो विष डाल रही है। यों वह बालक उस अपनी मां पर जलकर आग बबूला हो गया। उसने दवा से भरे गिलास को फेंक दिया। दवा न पी। तो अब देखो- जिसे कम दिखता था वह तो दवा पी

गया और उसके नेत्रों का दु:ख दूर हो गया, पर जिस बालक को पीला (उल्टा) दिखता था, जिसे मीलों दूर तक दिखता था, उसने दवा न पी, जिससे उसका नेत्र रोग दूर न हो सका। तो इसी तरह कोई ज्ञान में विद्या में बहुत बढ़ जाय, जो लौकिक विद्यायें होती हैं उनमें प्रवीण हो जाय। लेकिन निज का और पर का यथार्थ ज्ञान नहीं है, आत्मा के सत्यस्वरूप का बोध नहीं है तो उस जीव का उद्धार नहीं हो सकता। वह सत्य शान्ति नहीं प्राप्त कर सकता, आकुलताओं से परे नहीं हो सकता। उसके जन्म मरण नहीं टल सकते। इस कारण बड़े धैर्य की पद्धति से गुप्त ही गुप्त पढ़ लिख कर स्वाध्याय करके अपने आपका सच्चा ज्ञान जगाना चाहिए। अपने आत्मा की झलक अपने को हो जाय तो उससे आत्मा का भला हो सकता है। जो हमें सत्यपथ की श्रद्धा ही न करने दे ऐसा कर्म है दर्शन मोहनीय कर्म। यह निर्णय रखिये कि मुझ पर बड़ी आपत्ति छाई है, उसे दूर करेंगे तब शान्ति मिलेगी। कर्मों के मेटे बिना शान्ति न मिलेगी। यहां के दो दिन के मौज क्षणभंगूर, फिर भी पर, उनसे हम क्या मौज मानें? अपने आपके दर्शन करें और सदा के लिए संसार के संकटों को दूर कर दें, ऐसा अपने आपका निर्णय होना चाहिए।

वर्तमान संगम की विडम्बना- हम आप जितने भी लोग हैं, यह सब जो कुछ दिख रहा है और जिस सम्पर्क में बात बन रही है वह सब क्या है? 3 चीजों का पिण्ड है यों समझिये जीव, कर्म और शरीर यहां। कोई खालिस जीव नहीं नजर आता है। स्वरूप खालिस है मगर जो बीत रही है उस बात पर दृष्टि दें तो खालिस कोई चीज नहीं है। खाली कर्म भी नहीं है, खाली देह भी नहीं है। ये तीन शामिल भये हैं उससे चलना फिरना बोलना समझना ये सारी चकाचौंध इन तीन के मेल में हैं और इन तीन के मेल में क्या दशा बन रही है सो परख लीजिए। आज हम मनुष्य हुए हैं, किसी दिन से हुए हैं और किसी दिन तक रहेंगे, इससे पहिले क्या हुए थे, इसके आगे क्या होंगे? सो ये सब जो कीड़ा मकोड़ा पशु पक्षी आदि दिख रहे हैं ये सब उसके प्रतीक है। सो मैं कुछ था और न संभाले तो मैं ऐसा ही कुछ होऊँगा। जरा कुछ ध्यान तो करना चाहिए कि काल हैं अनन्त। अनन्त काल व्यतीत हो गया, अनन्त काल आगे और पड़ा है। इसे रहना कब तक पड़ेगा? अनन्तकाल तक। हम हैं, हमारा कभी नाश नहीं हो सकता। हम पर्यायें बदलते जायेंगे या शुद्ध हो जायेंगे तो सिद्ध बनेंगे, पर हम कभी मिट नहीं सकते। अनन्तकाल तक रहेंगे। उस अनन्तकाल के सामने ये जीवन के 100-50 वर्ष कुछ गिनती भी रखते हैं क्या? अरे यह इतना सा समय कुछ भी तो मूल्य नहीं रखता। फिर इतने से समय में हम आप व्यर्थ ही अपना स्वच्छन्द प्रवर्तन करते हैं। व्यर्थ ही रागद्वेष मोहादि विकार भाव बनाते हैं। इनके फल में जन्म मरण की परम्परा ही बढ़ती रहेगी और अनन्तकाल तक दु:ख भोगना पड़ेगा।

विवेकी पुरूष का विवेक- विवेकी पुरूष वह है जो इस सुयोग का लाभ उठाये। जैसे किसी नगर में एक यह रिवाज था कि हर वर्ष नया राजा बनाया जाता था, और नया राजा बनने पर पहिले वाले राजा को जंगल में छोड़ दिया जाता था, यों बहुत से लोग राजा बने, जंगल में छोड़े गए और दु:खी होकर मरे।

एक बार एक विवेकी पुरूष राजा बना। उसने विचार किया कि एक वर्ष के लिए तो हमें सब अधिकार प्राप्त हैं। जो चाहे हम कर सकते हैं। उसने जिस जंगल में उसे छोड़ा जाना था उस जंगल में एक बहुत बड़ा भाग साफ करवा लिया खेती करने लायक भूमि बना ली, बहुत से नौकर चाकर दिये, कोठियाँ भी बनवा लीं, खेती करने के सारे सामान भी भेज दिए। जब एक वर्ष बाद उसे उस जंगल में छोड़ दिया गया तो वहां उसे क्या कष्ट? वह तो बड़े आराम से रहने लगा। तो इसी तरह से समझिये हम आप लोग कुछ समय के लिए मनुष्य बन गए हैं। अब मनुष्य बनकर यहां की यह रीति है कि प्राय: करके ये मनुष्य निगोद में, नरक में अथवा पशु पक्षियों की योनियों में पटक दिये जायेंगे। लेकिन कोई आत्मा चतुर हो तो वह समझता है कि इस मनुष्य भव में मैं जो कुछ करना चाहूं कर सकता हूं जो ज्ञान मिला है उसका ठीक उपयोग कर ले। तो वह अपने ज्ञान का ठीक उपयोग करेगा, अपने आत्मा को जानेगा, आत्मा का विश्वास करेगा, आत्मा में लीन होगा उसके सब कर्म कट जायेंगे वह सिद्ध पद पायेगा और अनन्त काल के लिए सुखी रहेगा।

आयु, नाम व गोत्र कर्म के विपाक में विडम्बना- भैया ! यहाँ व्यर्थ के भ्रम का चैन मत मानो। विपदा हम आप पर बसी है इन कर्मों की। ये मौज मानने के दिन हैं। कुछ अच्छे साधन पाकर, योग्यतायें पाकर यदि मौज मानते रहे तो उसका फल क्या होगा? इस 100-50 वर्ष के समय की तो बात क्या, अनन्त काल तक जन्म मरण की परम्परा के दु:ख भोगने पड़ेगे। कुछ तो सोचिये। यह कर्मों का ही तो फल हैं कि इस जीव को शरीर में फँसना पड़ता है। यदि यह जीव शरीर में न फंसा होता, खालिस होता तो इसकी बड़ी शान्त अवस्था होती। जिस शरीर को देखकर हम बड़े खुश होते हैं, जिसको देखकर हम अपना बड़ा गौरव अनुभव करते हैं, जिसको हम बड़े आराम से रखना चाहते हैं, जिसकी शकल के फोटो स्टैचू आदि बनवाकर लोक में नामवरी फैलाना चाहते हैं वह शरीर ही इन समस्त विडम्बनाओं का कारण है। खूब निरख लीजिए, शरीर के सम्बंध से होगा क्या? भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, इज्जत, प्रतिष्ठा आदिक ये सब इस शरीर के नाते से ही तो हैं, इस शरीर को निरखकर गर्व न करें। यह शरीर नाम कर्म के उदय से प्राप्त हुआ है, यह मेरी चीज नहीं। यह जड़ है, मैं चेतन हूं, और फिर खासकर यह मनुष्य का शरीर तो बड़ा भयानक सा है। इस शरीर में अन्दर से लेकर बाहर तक कुछ भी तो पवित्र चीज नहीं है। हाड़, मांस, मज्जा, खून, पीप, नाक, थूक, खकार, मल, मूत्र आदिक महा दुर्गन्धियों का घर है यह शरीर। अनुप्रेक्षा ग्रन्थों में आचार्यों ने कहा है कि इस मनुष्य को जो ऐसा गंदा अपवित्र शरीर मिला है वह इसको वैराग्य के लिए दिया है। इस शरीर से इस मनुष्य को राग न रहे क्योंकि महा गंदी अपवित्र चीज से किसे प्रीति होती है? तो ये मनुष्य इस शरीर में राग न करके आत्मकल्याण कर लें, मानों इसलिए यह महा अपवित्र शरीर को ही अपना सर्वस्व मानता है। यही कारण है कि यह शरीर इस जीव को महा दु:ख दे रहा है। शरीर के सम्बंध से ही यह जीव ऊँच नीच कहलाता।

जिसे कुल कहो अथवा गोत्र कहो। ये कुल गोत्र भी इस जीव के क्लेश के ही कारण हैं। यदि लोक में निन्द्य कुल मिल गया तो यह जीव यह सोचकर दु:खी रहता है कि हाय मैं क्या हूं। अगर पूज्य कुल मिल गया तो उसमें यह जीव गर्व करने लगता है। यों यही शरीर इस जीव के क्लेश का ही कारण बन रहा है।

इच्छा की अनर्थरूपता व अन्तराय का विपाक- इच्छा के माफिक इस संसार में न कभी किसी का हुआ, न होगा, न होता है। कोई पुरूष जिस काल में इच्छा करे उसी काल में उसकी इच्छा की पूर्ति हो जाय यह किसी के आज तक हुआ क्या? एक दिन की देर लग जाय, एक घंटे की अथवा एक मिनट की देर लग जाय। इच्छा करते ही तुरन्त उसकी पूर्ति हो जाय, ऐसा नहीं हो सकता। बड़े-बड़े पुरूष तीर्थंकर चक्रवर्तियों को भी ऐसा नहीं हुआ। इसका प्रमाण यह है कि जिस काल में कोई चीज मिली हुई है, अनुभवी जा रही है, भोगी जा रही है उसी काल में उस चीज की किसी ने इच्छा भी की क्या? चाहे और दूसरी इच्छा कर ले पर जिसको भोग रहा है उसकी इच्छा तो नहीं होती। जैसे कोई दुकान पर बैठा हुआ सोचता है कि आज हमें इसमें 50 रू मिलें तो जब तक नहीं मिलें तब तक तो वह सोच रहा है और जब तक मिल गए तो फिर जब मिल गए तो फिर नहीं सोचता, भले ही वह नई बात चाह ले। तो जो चीज पास है उसकी चाह नहीं बनती और जो चीज पास नहीं है उसकी चाह बनती है। इससे सिद्ध है कि जब चाह है तब वस्तु की प्राप्ति नहीं होती और जब चाह नहीं है तब वस्तु की प्राप्ति होती है। कोई जिस काल में जिस चीज की इच्छा करे वह उसे उसी समय में प्राप्त हो जाय, ऐसा कभी नहीं हो सकता। बहुत से लोग तो अपने घर में ऐसी हठ करने लगते हैं कि हमें तो अमुक चीज खानी है, जैसे मानों खीर खाना है तो जिस समय उसको खीर खाने की इच्छा हुई उसी समय उसे खीर मिल तो नहीं जाती। तो ऐसा कभी हो ही नहीं सकता कि जब इच्छा की जाय तभी उस चीज की प्राप्ति हो सके। जब इच्छा करते ही तुरन्त चीज प्राप्त न हुई तो मुझे कुछ भी न चाहिये। मैं बिना चाहे, बिना इच्छा किए अपने आपमें तुष्ट रहूं। तो हम आप को ये कर्म बड़ी विडम्बना के, विकार के कारण बन रहे हैं।

कर्मबन्ध व कर्ममुक्ति का आधार आत्मभाव- कर्मों का बन्ध होता है तो हमारे ही भावों से होता है। हम अपने विकार भाव न करें, पापों से दूर रहें, कषायों से दूर रहें, दूसरों को क्षमा करने का, दूसरों के आगे नम्र रहने का, अपने आपमें सरल बने रहने का, उदार रहने का हम अपना अभ्यास बनायें। इन कषायों से कोई लाभ नहीं होता। क्रोध करके यह कभी शान्ति नहीं पा सकता। क्रोध के काल में अशान्त हैं और क्रोध करके जिस दूसरे मनुष्य को पीड़ा उत्पन्न कर दे उसकी ओर से सदा भय और चिन्ता रहेगी। अभिमान करके दुनिया को नीचा देखकर, अपने को सबसे ऊँचा समझना आदि इन प्रवृत्तियों से किसी को शान्ति नहीं मिलती। मायाचार करके, छल कपट करके भी किसी को शान्ति नहीं मिलती। लोभ करके भी शान्ति नहीं मिलती। अनेक बार ऐसा अनुभव किया हो कि 10 रूपये का लोभ किया तो उसी प्रसंग में या अन्य किसी प्रसंग में हजार 500 का टोटा हो गया। और लोभ करना किसका? कोई अपनी चीज हो तब ना।

जगत में जो कुछ भी समागम हैं वे सब मुझसे भिन्न हैं उनसे मेरा कुछ भी सम्बंध नहीं, मैं अकिन्चन हूं, ज्ञानमात्र हूं, ये दो भावनाएँ ऐसी ऊँची हैं कि इन भावनाओं से ही आप धर्म पा लेंगे। ज्ञान ज्योति पायेंगे, कर्मों का विनाश कर लेंगे और अपने आपमें तृप्त हो लेंगे। अपने आपको अकिन्चन अनुभव कर लेने से अपने आपकी प्रभुता के दर्शन होंगे और उसी समय जो आनन्द प्रकट होगा, वह आनन्द अन्य किसी भी उपाय से नहीं प्राप्त हो सकता। वह सर्वोत्कृष्ट आनन्द है। स्वाधीन आत्मा की उपासना से उत्पन्न हुआ आनन्द है। इससे इतना तो कम से कम ख्याल करते ही रहें कि जो समागम मिले हैं ये सब विनाशीक हैं, मेरे साथ सदा न रहेंगे। मैं तो अकिन्चन हूं और ज्ञानमात्र हूं। यह बात समझ में तो आयी होगी। जो बात समझ में आयी है उसे कई बार विचार लो। अपने अन्दर में उसे देखें, यह भी किया जा सकता है और इस उपाय से नियम से आत्मकल्याण होगा। धर्म किसी जाति अथवा मजहब की चीज नहीं, धर्म का सम्बंध तो आत्मा से है। और धर्म का फल है शान्ति देना। जो धर्म करेगा सो शान्त होगा और सदा के लिए संसार के संकटों से छूट जायेगा। हमारा कर्तव्य यह है कि हम अपने को सही जानें यथार्थ प्रतीति करें और अपने आपमें रमने की धुन बनायें, इसी उपाय से कर्म दूर होंगे और उस शुद्ध सिद्ध पद की प्राप्ति होगी। उसकी ही धुन में समता का उपासक पुरूष सिद्ध भगवान का यही ध्यान करता है, उनकी भक्ति करता है और सिद्ध के स्वरूप को अपने स्वरूप को एक समान निरखकर सोऽहं, वही मैं हूं इस अभेद भावना से अपने आपमें एक ज्ञान ज्योति का अनुभव करता है। यही धर्मपालन है और यही सबका काम है, जो करेगा सो इस धर्म के फल में अतुल शान्ति प्राप्त करेगा।

समाधिभक्त द्वारा मोक्षलक्ष्मीनिकेतन की वन्दना- आत्मा के रागद्वेषादिक किसी भी विकार में हित न समझने वाला ज्ञानी पुरूष समता के परिणाम की उपासना में समता की शाश्वत स्पष्ट मूर्ति सिद्ध भगवंत की वंदना कर रहा है। ये सिद्ध प्रभु मोक्षलक्ष्मी के निकेतन हैं अर्थात् मुक्तिश्री हैं इसका आश्रय पाकर शोभायमान है। ये शरीर से भी मुक्त हैं, कर्मों से भी मुक्त है, विषय कषाय वान्छा आदिक विकारों से भी मुक्त हैं और इतना सामान्य ज्ञानात्मक हैं कि वहां विचार तर्क वितर्क आदिक भी नहीं उत्पन्न होते। एक स्वरूप जो जाना ऐसा ही सदाकाल जानते रहेंगे, ऐसे साधु समूह की मैं वंदना करता हूं। सिद्ध भगवान में सम्यक्त्व आदिक 8 गुण होते हैं। जैसे कर्म 8 हैं तो इन 8 कर्मों ने आत्मा के इन 8 गुणों को दबा दिया था, विकृत कर दिया था। अब 8 कर्मों के नष्ट होने से ये 8 गुण सिद्ध भगवंत में प्रकट हुए हैं।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण व वेदनीय के क्षय से परमगुणविकास- कौन से 8 गुण सिद्ध भगवंत में इन कर्मों के नष्ट होने से प्रकट हुए हैं? उनको क्रम से सुनिये- ज्ञानावरण के नष्ट होने से भगवान में केवल ज्ञान प्रकट हुआ, जिसके प्रताप से तीन लोक तीन कालवर्ती समस्त पदार्थों को स्पष्ट जानते हैं। यह ज्ञान आत्मा का स्वभाव है, कहीं बाहर से लाया गया हो, ऐसी बात नहीं है। ज्ञान एक अमूर्त स्वरूप है, उस पर किसी का आवरण नहीं वरन् सम्बंध बनता है कि ज्ञानावरण के उदय का निमित्त बनता है। लेकिन आत्मा

की स्वयं की कमजोरी के कारण ऐसा निमित्तनैमित्तिक पाकर यह जीव स्वयं अपने ज्ञान का विकास नहीं कर पाता। अब ज्ञानावरण बिलकुल नष्ट हो जाने के कारण उस सिद्ध आत्मा में केवल ज्ञान प्रकट हुआ है। दूसरे कर्म का नाम है दर्शनावरण कर्म, इस कर्म के उदय से आत्मा का दर्शन गुण नहीं प्रकट हो पा रहा। विकृत दृष्टि बन रही थी। अब दर्शनावरण कर्म के नष्ट होने से प्रभु से केवल दर्शन प्रकट हुआ है। अब वे प्रभु तीन लोक तीन काल के समस्त पदार्थों के जाननहार निजस्वरूप का दर्शन किया करते हैं। तीसरा कर्म है वेदनीयकर्म। इस वेदनीयकर्म के उदय से बड़ी बाधायें जीव को आ रही थीं। सांसारिक सुख दु:ख के रूप में यह जीव क्षुब्ध रहा करता था। इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग आदिक के रूप से यह जीव दु:ख माना करता था। अब वेदनीयकर्म के नष्ट हो जाने से सिद्ध भगवंत में ये सुख दु:ख नहीं रहे, उनमें सत्य आनन्द प्रकट हो गया। सुख और आनन्द में अन्तर है। सु का अर्थ है सुहावना लगना और ख का अर्थ है इन्द्रिय। जो इन्द्रियों को सुहावना लगे उसे सुख कहते हैं और जो अपने आपमें सर्व ओर से समृद्धिशाली बने, शान्त बने उसे कहते हैं आनन्द। आनन्द आत्मा का स्वभाव है, पर सुख आत्मा का स्वभाव नहीं। ये सुख दु:ख वेदनीयकर्म के उदय से बनते हैं। अब ये प्रभु सुख दु:ख से परे, परमशान्त आनन्दमग्न है, उनके अनन्त आनन्द है। उनका आनन्द आत्मा से उत्पन्न हुआ आनन्द है। वह आनन्द कभी भी मिट न सकेगा। उसे अनन्त आनन्द कहो अथवा अव्याबाध कहो। जहां किसी प्रकार की बाधा न रहे वह वेदनीयकर्म के अभाव से प्रकट हुआ है।

मोहनीयकर्म के क्षय से परम गुणविकास- चौथे कर्म का नाम है मोहनीयकर्म। मोहनीय कर्म दो प्रकार से प्रहार कर रहे थे। एक तो इस जीव की श्रद्धा बिगाड़ दी। निज को निज, पर को पर जानना चाहिये था, लेकिन निज की तो अब सुध भी न रही और पर को निज जान रहा था। ऐसी श्रद्धा बिगड़ी इस दर्शन मोह के उदय से कि चारित्र मोह के उदय से यह जीव विषयों में रमने लगा। इसको रमना चाहिए था अपने ज्ञानमात्र स्वरूप में, किन्तु इस अन्तस्तत्त्व में न रमकर यह जीव रम रहा है बाह्य विषयों में, बाह्य पदार्थों में। तो मोहनीयकर्म के ये दो प्रकार के प्रहार हो रहे हैं। अब मोहनीय के नाश हो जाने से यहां सिद्ध भगवंत विशुद्ध आत्म प्रतीति में रहते हैं और अपने आत्मा में ही लीन रहा करते हैं। उससे होता है आनन्द और समीचीनता। जैसा आनन्द का स्वरूप है तैसा ही सही स्वरूप प्रकट हो गया। तो मोह के अभाव में इसमें सम्यक्त्व गुण प्रकट हुआ है। यहां सम्यक्त्व का अर्थ केवल सम्यग्दर्शन का ही न लेना। सम्यग्दर्शन भी होता है और यही आचरण भी होता है। प्रकट रूप से जैसा यह आत्मा है, जैसा इसका स्वरूप है वह पूर्णरूप से वैसा ही प्रकट हो गया है।

आयुकर्म के क्षय से परम गुणविकास- 5 वां कर्म है आयुकर्म, आयुकर्म के उदय के कारण यह जीव संसार अवस्था में शरीरों में बँधा रहता था। जैसे इस समय हम आप शरीर में बँधे हुए हैं, तो जब तक मनुष्य आयुकर्म चल रहा है तब तक इस मनुष्य शरीर में बँधे रहेंगे, इसी प्रकार मनुष्य भव की आयु

समाप्त होने पर, दूसरे भव में पहुंचने पर दूसरी आयु ने बाँध दिया। अब उस भव में उस आयु के कारण बँधे रहेंगे। तो शरीर में इस जीव को रोके रखने का काम आयुकर्म करता है, आयुकर्म अब न रहा तो सिद्ध भगवंत अब किसी भी शरीर में नहीं बँधे है और उनमें अब अवगाहन गुण प्रकट हो गया है। इस समय तो एक जीव दूसरे के शरीर में नहीं समा सकता, दूसरे के स्थान पर नहीं रह पाता, लेकिन आयुकर्म अब न रहने से सिद्ध भगवान जहाँ विराजे हुए हैं वहां अनन्त सिद्ध विराजे हैं, ऐसा उसमें अवगाहन गुण प्रकट हुआ है। जिस जगह से कोई ऋषि मुक्त होता है उसी जगह से अनन्त ऋषि मुक्त हुए हैं। उन सबका अवगाहन ऊपर उसी जगह से होता है। जीव जब कर्मों से मुक्त होता है तो इसकी ऊर्ध्व गति होती है। जहां से वह जीव मुक्त हुआ है, कर्मों से छूटा है, ठीक उसकी ही सीध में बहुत ऊपर जिसके बाद फिर लोक नहीं हैं, वहाँ जाकर यह जीव विराजमान होता है और वहीं से अनन्त जीव मोक्ष गए हैं तो वे भी उसी जगह में अवस्थित हैं। इस ढाई द्वीप के अन्दर कोई सा भी प्रदेश ऐसा नहीं है जहां से जीव मोक्ष न गए हों। इस दृष्टि से ढाई द्वीप का प्रत्येक स्थान निर्वाणस्थान है, तीर्थ क्षेत्र है। जैसे हम आप यहां पर शिखरजी, गिरिनारजी आदिक को निर्वाण क्षेत्र कहते हैं। क्यों कहने की प्रसिद्धि है ऐसी कि शिखरजी से अनन्त जीव मोक्ष गए हैं और इस युग में भी अनेक महापुरूष मोक्ष पधारे तो जिन-जिन क्षेत्रों से जीव मोक्ष गए हैं, विशेषतया जिनकी प्रसिद्धि है उनको हम निर्वाण क्षेत्र कहते हैं। यह तो हम ढाई द्वीप के भीतर ही रहकर सोच रहे हैं ना, इसलिए विशेषपूर्वक हमें निर्वाण क्षेत्र विदित होते है। लेकिन सारी दुनिया की दृष्टि में देखो ढाई द्वीप के बाहर के क्षेत्र यहां से कोई जीव मुक्त नहीं हुए। तो उनके मुकाबले में यह ढाई द्वीप का क्षेत्र तो सारा का सारा निर्वाण क्षेत्र है। जिस जगह हम आप बैठे हैं इस जगह से भी अनन्त जीव मोक्ष गए। तो यह जगह भी निर्वाण क्षेत्र है। तो इस ढाई द्वीप में प्रत्येक प्रदेश से अनेक जीव मोक्ष गए हैं और वे वहां भी सीधे ऊपर जाकर विराजमान रहते हैं। तो सिद्ध भगवंत में ऐसा अवगाहन गुण प्रकट हुआ है। देखिये- वहां रहने वाले सिद्ध भगवान की स्थिति कि एक माहि एक राजे, एक माहि अनेक नो। वे सिद्ध भगवान किस तरह रह रहे हैं? एक सिद्ध भगवान में अनेक सिद्ध भगवान रह रहे हैं, क्योंकि उसही जगह से जितने आत्मा मुक्त हुए है वे ऊपर ठीक सीध में उस ही जगह रहेंगे। इसलिए एक में अनेक रह रहे हैं, फिर भी एक में अनेक नहीं रह रहे। एक में एक ही रह रहा है, वह किस प्रकार कि जिस भगवान ने केवलज्ञान के द्वारा जो कुछ जाना वह उस ही भगवान ने जाना, वही रहने वाले अन्य सिद्ध भगवान ने अपने स्वरूप से अपने उस समस्त को जाना। तो सबका ज्ञान, सबका आनन्द, सबका परिणमन उनका अपने आपमें जुदा जुदा है। इस निगाह से देखो तो प्रत्येक सिद्ध अपने एक में एक ही रह रहा है, एक में अनेक नहीं रहते। लेकिन स्थान की दृष्टि से देखो तो एक सिद्ध में अनेक सिद्ध रह रहे हैं। तो आयुकर्म के नष्ट होने से सिद्ध भगवंत में यह अवगाहनगुण प्रकट हुआ है।

नामकर्म के क्षय से परमगुण विकास- छठे कर्म का नाम है नामकर्म। नामकर्म के उदय से इस जीव के शरीर की रचना होती आ रही थी। जैसे कोई मनुष्य मरा और मरकर उसे घोड़ा बनना है तो जिस स्थान पर वह घोड़ा बनेगा उस स्थान पर यह जीव पहुंचा। पहुंचने के बाद घोड़े के शरीर का निर्माण हुआ। घोड़े के जैसे अंगोपांग बने। तो इसको रचने वाला कौन है? यदि किसी एक विधाता को मान लिया जाता तो उसमें अनेक आपत्तियां हैं। प्रथम तो यह बात है कि उसने कहां बैठ कर इस शरीर को बनाया? और वह भी शरीर वाला है या बिना शरीर का है? यदि शरीर वाला है तो उसके शरीर को किसने बनाया? यदि शरीर बनाया नहीं है तो जिसके शरीर नहीं है वह क्रिया ही क्या कर सकता है? और फिर उसने बनाया क्यों? क्या दया आयी इसलिए इन जीवों को बनाया? यदि दया की वजह से जीवों को बनाया तो उसे अन्त तक दया निभानी चाहिए थी, लेकिन यह जीवों को दु:ख भी दे रहा है, नरक में भेज रहा है। तो अब उसकी दयालुता कहां गई? यदि वह खेल खेल में बना रहा है, उसे ऐसा बनाने में कुछ आनन्द आ रहा है इसलिए अपने मौज के लिए बना रहा, तो अपने मौज के लिए दुनिया की रचना की जिससे जीव दु:खी हों, यह तो बड़े पुरूषों का काम नहीं। यह तो तुच्छ लोगों का काम है कि अपने मौज के लिए दूसरों पर चाहे कुछ भी अन्याय करें। इससे अच्छा तो यह था कि उन जीवों को वह बनाता ही नहीं तो वे दु:खी ही न होते। किसलिए बनाया? कोई इसका ठीक उत्तर नहीं बैठता। दूसरी बात यह है कि जीवों को बनाया तो किसी साधन से बनाया या कुछ भी न था और बना दिया? कुछ भी न हो और कुछ बन जाय, ऐसा तो त्रिकाल में भी नहीं हो सकता। अरे मिट्टी है तभी तो घड़ा बनेगा, कुछ भी न हो और घड़ा बन जाय ऐसा तो नहीं हो सकता और कुछ था तो वह था ही पहिले से फिर बनाया गया। एक नया परिणमन हो गया है। तो बहुत सी बातें विचारने पर यह सिद्ध होता है कि इस जगत को, इस जीव को, इस शरीर को किसी एक ने ही बनाया है, किन्तु ये ही शरीर के परमाणु जो फुटकर फैले रहे थे वे ही इस मोही जीव का संसर्ग पाकर इस शरीर रूप में बन गए। उसका कारण है नाम कर्म का उदय। तो नामकर्म के उदय के निमित्त से यहां जीवों के शरीर की रचना होती थी और इस शरीर के कारण यह जीव स्थूल रहा करता था। जैसे- हम आप सब मोटे मोटे लोग बैठे हैं ना, सूक्ष्मता तो नहीं रही, इस जीव को पकड़ भी सकते, कोई भग रहा हो तो उसे पकड़कर बाँधा जा सकता। तो ऐसा स्थूलपना बन रहा था लेकिन अब नामकर्म नष्ट हो गया तो सिद्ध भगवंत वहां सूक्ष्म रूप से ही विराजमान है। अब यह स्थूलपना नहीं रहा। जैसे यहां किसी को देखकर हम कह बैठते हैं कि यह अमुक है, इसको पकड़ लिया, बैठा लिया, बाँध दिया, यहां से अब अन्य कहीं जा सकता नहीं। जैसा व्यवहार यहां जीव के प्रति किया जा सकता था वह व्यवहार अब नहीं हो सकता है। वह अत्यन्त सूक्ष्म है।

गोत्रकर्म के क्षय से परमगुणविकास- 7 वां कर्म है गोत्रकर्म, इस गोत्रकर्म के उदय के निमित्त से यह जीव ऊँच नीच कुल वाला कहलाता था, देवगति के सभी जीव उच्च कुल वाले कहलाते हैं देवों का नीच

कुल नहीं होता, तिर्यन्च गति के जीव सभी नीच कुल के कहलाते हैं चाहे सिंह हो, चाहे बछड़ा हो, चाहे पेड़ हो, सभी नीच कहलाते हैं। केवल मनुष्यगति के जीवों में दोनों कुल सम्भव है। कोई मनुष्य कुल के कहलायेंगे, कोई उच्च कुल के कहलायेंगे। तो ये जो कुल से भेद हैं ये गोत्रकर्म के उदय से हो रहे हैं। अब सिद्ध भगवन्त में गोत्रकर्म नहीं रहा, गोत्रकर्म के नष्ट होने से अब वहां अगुरूर्लघु गुण प्रकट हुआ है। अ मायने नहीं, गुरु मायने बड़ा, लघु मायने छोटा, वहां कोई सिद्ध छोटा है न बड़ा। सभी एक समान हैं। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति, अनन्त आनन्द के धारी हैं। यहां से कई मुनि ऐसे मोक्ष गए हैं जिन्हें कोई लोग जान भी नहीं सके, पर वे मुनि मुक्त होने पर सिद्धों की भांति अनन्त आनन्द के धारी बने। अनन्त चतुष्टय उनसे प्रकट हुए. जैसे ऋषभदेव, वर्द्धमान स्वामी आदिक मुक्त हुए ऐसे ही वे अनन्ते मुनि भी मुक्त हुए, उनमें कोई छोटे बड़े का भेद नहीं रहता। इसी कारण सिद्ध भगवन्त में ये अगुरूर्लघु गुण प्रकट हुआ है।

अन्तराय कर्म के क्षय से परमगुण विकास- 8 वें कर्म का नाम है अन्तरायकर्म। अन्तराय कर्म के उदय से इस जीव को बड़े विघ्न आ रहे थे। दान देना चाहते थे, पर दान न दे सके, दान देने के भाव ही नहीं पैदा हो पाते। कोई पुरूष तो ऐसे भी हुए हैं जो अपने मुख से भी कह डालते हैं कि मेरे पास धन बहुत है और मैं चाहता हूं कि कुछ दान में लगाऊँ, पर मेरे हाथ से दान दिया नहीं जाता रहा। चाहते हुए भी मैं अपने हाथ से किसी को दान नहीं दे सकता। कोई जबरदस्ती उसका धन छुडाकर दान में लगा दे तो वह उसका कुछ बुरा नहीं मानता, उसमें वह खुश है, पर अपने हाथों से दान नहीं दिया जाता। यह क्या है? यह एक ऐसा विचित्र अन्तराय का उदय है कि दान दे नहीं सकता। चाहता यह है कि मुझे इतना लाभ हो, पर लाभ नहीं हो पाता। लाभ होने की स्थिति भी आये तो उस लाभ में विघ्न हो जाते हैं। यह जीव चाहता है कि मैं खूब खाऊँ, पर खाया नहीं जाता। बहुत से रईस लोग ऐसे हैं कि जो चाहते हैं कि मैं खूब खाऊँ, पर कोई रोग के कारण उनको खाना ही नहीं पचता, वे खा ही नहीं सकते तो क्या है? यह एक अन्तराय का उदय है। इसी प्रकार उपभोग में भी विघ्न आता है। उपभोग उन पदार्थों को कहते हैं जो बारबार भोगने में आ सकते हैं, जैसे चारपाई, परिजन, घर ये उपभोग कहलाते हैं इनमें भी विघ्न आ जाता है। वह उन भोग को नहीं भोग सकता है। शक्ति में विघ्न आ गया। तो ये सब अन्तराय होते होते संसार अवस्था में अन्तराय कर्म का उदय था लेकिन वे अन्तराय कर्म नष्ट हो गए, सिद्ध भगवान के अनन्त शक्ति प्रकट हुई है। अब वे प्रतिक्षण अनन्त आनन्द भोगते रहते हैं। यह उनका एक सकल संन्यास है। तो प्रभु के ये 8 गुण उत्पन्न हुए हैं। ऐसे सम्यक्त्व आदिक 8 गुणों से सहित सिद्ध समूह को मैं नमस्कार करता हूं।

श्लोक 13

आकृष्टिं सुरसम्पदां विदघते भक्ति श्रियो वश्यताम्।

उच्चाटं विपदां चतुर्गतिभुवां विद्वेवषमात्मैनसाम्।।

स्तंभंदुर्गमनं प्रतिप्रयततो मोहस्य सम्मोहनम्-

पायात्पंचनमरिक्रयाक्षरमयी साराधना देवता।।13।।

समाधिभक्त का सर्वत्र सम्यग्दर्शन- लोक में एक समता परिणाम ही सारभूत तत्त्व है। न करे कोई समता तो बीतेगी क्या उस पर? आकुलता। किसी बाह्य पदार्थ में राग जगा तो इसे मिलेगा क्या? आकुलता। किसी बाह्य पदार्थ में घृणा हुई तो मिलेगा क्या? आकुलता। केवल एक समता ही सार है। किसी भी प्राणी में रागद्वेष न जगे, किसी भी बाह्य पदार्थ में रागद्वेष उत्पन्न न हो तो वहाँ केवल जाननहार की दृष्टि रहती है और ऐसे ज्ञातापन की स्थिति में उसके समताभाव जगता है। उस समता परिणाम में जिसका दूसरा नाम है समाधिभाव, उस समाधिभाव में उस जीव को विशुद्ध आनन्द प्रकट होता है, ऐसा समाधिभाव यह समाधिभक्त संत पंचपरमेष्ठी में निरख रहा है। साधु भी रागद्वेष को दूर करके समता परिणाम के परम उपासक हैं। साधुजन शत्रु और मित्र में समता का भाव रखते हैं। कैसा स्पष्ट भेदविज्ञान है साधुजनों का कि एक तो मित्र है और एक शत्रु है, अर्थात् एक पुरूष तो साधु महाराज की बड़ी सेवा करता है और एक पुरूष साधु को सताता है, दु:खी करता है लेकिन साधु पुरूष की दृष्टि में वे दोनों एक समान हैं, भले ही व्यवहार कुछ जुदे जुदे ढंग का हो जाय, मगर भीतर में न शत्रु के प्रति द्वेष है और न मित्र के प्रति मोह है। वह साधु तो उन दोनों का भला चाहता है। सबका कल्याण हो जब भीतर में विशुद्ध ज्ञानप्रकाश जगता है तब ही आत्मा में ऐसी निष्पक्षता प्रकट होती है। साधुजन महल और श्मशान में समता परिणाम रखते हैं। श्मशान में रहते हुए वे ग्लानि नहीं करते, बल्कि श्मशान में, एकान्त में, वैराग्य के स्थान में रहने के कारण जो विशुद्ध ज्ञानविकास होता है, विरक्ति बढ़ती है उससे वे शुद्ध आनन्द की वृद्धि ही अपने में पाते हैं। साधु संत श्मशान में रहकर विषाद नहीं मानते और महलों में रहकर मौज नहीं मानते। कभी किसी अच्छे महल में साधु को ठहरा दिया गया, अथवा आहार आदिक के प्रयोजन से किसी महल में पहुंच गए तो महल में रहकर भी वे कहीं मौज नहीं मानते। उनके लिए श्मशान और महल दोनों ही समान हैं। सामने स्वर्ण पड़ा हो अथवा पत्थर, काँच का टुकड़ा पड़ा हो, पर साधु की दृष्टि में उन दोनों का एक मूल्य है। यह तो किसी छोटे बच्चे की दृष्टि में भी आ सकता है। किसी दो चार माह के बच्चे के पास स्वर्ण और काँच दोनों रख दिये जायें तो उसके लिए क्या हैं? क्या वह समझता है कि यह अधिक मूल्यवान है यह कम मूल्यवान है? बच्चे को तो अज्ञान के कारण ऐसा कहा जा सकता है कि कुछ जानकारी नहीं है लेकिन साधु महाराज को प्रयोजन कुछ नहीं है इस कारण दोनों में समता है। साधु ने तो

अपने शुद्ध ज्ञानमय आत्मा में ही रमने के लिए जीवन माना है। उसे अब कोई दूसरा काम नहीं है। विषय उसे रूचिकर नहीं लगते हैं, स्वर्ण को वह करेगा क्या और काँच का भी वह क्या करेगा? तो यों साधु महाराज को स्वर्ण और कांच में बराबर की बुद्धि है। कोई निन्दा करे अथवा स्तवन करे तो उन दोनों में साम्यबुद्धि है।

समाधिभक्ति का आराधना देवता- समता की मूर्ति पन्च परमगुरू की भक्ति में समता का उपासक लीन रहा करता है। इसी प्रकार आचार्य उपाध्याय भी समता के पुन्ज हैं और अरहंत सिद्ध प्रभु तो प्रकट साम्यमूर्ति हैं, उनकी भक्ति संत करते हैं तो उनकी भक्ति में उनके नाम के जो अक्षर है, पंच नमस्कार मंत्र है, यह भी उसे देवता लग रहा है। णमोकारमंत्र को भी वह देवता समझता है। पन्चनमस्क्रिया क्षरमयी आराधना देवता सबकी रक्षा करें। शरण लेने के योग्य 5 परमगुरू हैं- अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु। इनका जाप तीन अक्षरों में किया जाता है वे अक्षर भी देवता कहलाते हैं। उन अक्षरों के सहारे से जो चित्त में आराधना बनती है उसको भी देवता कहते हैं। यहां समाधिभक्ति का प्रकरण है। ज्ञानी संत को समतापरिणाम ही सर्वोत्कृष्ट इष्ट है। तो उस पंच नमस्कार की अक्षरमय जो यह आराधना है णमोकार मंत्र के सहारे से जो पंचपरमेष्ठी की आराधनारूप परिणति है उस देवता की प्रशंसा कर रहे हैं कि यह नमस्कार मंत्र की आराधना अथवा नमस्कार मंत्र रूप आराधना सम्पदा के आकर्षण को करती है देवों में प्राप्त होने वाली सम्पदा को खींचकर इसके समक्ष उपस्थित करती है, अर्थात् पंचपरमेष्ठी की भक्ति के प्रसाद से इतना विशिष्ट पुण्यकर्म का बन्ध होता है कि देवों के जो इन्द्र हैं, जो उत्कृष्ट सम्पदा के अधिकारी हैं उनकी सम्पदा को प्राप्त करा देता है।

नमस्क्रियाक्षरमयी आराधना देवता में प्रभाव का कारण- नमस्कारमंत्र में क्यों इतना प्रभाव चढ़ा है, इसका कारण यह है कि इसमें जिन पवित्र आत्मावों की उपासना की जा रही है वे आत्मा समीचीन दृष्टि से पवित्र हैं, पवित्रता का अर्थ है कि किसी चीज में वही चीजमात्र रहना और दूसरी चीज का सम्बंध न रहना इसी को पवित्रता कहते हैं। जैसे चौकी पवित्र हैं। चौकी में दूसरी वस्तु का सम्बंध नहीं है, यही पवित्रता कहलायी। आत्मा पवित्र कौन है? जो आत्मा केवल आत्मा ही हो, उस आत्मा में पर का सम्बंध न हो उसे पवित्र कहते हैं। जैसे यहां संसार में हम आपके आत्मा के साथ दूसरी वस्तु भी जुडी हुई है। यद्यपि वस्तु स्वरूप के कारण आत्मा में आत्मा ही है, पर में पर ही है, लेकिन संयोग सम्बंध तो प्रकट जुडा हुआ है। साफ समझ में आ रहा है, हम शरीर में बँधे हैं, कर्म में बँधे हैं, तर्क वितर्क विचार वितर्क ऐसे उत्पन्न होते हैं कि हम अपने सहज स्वरूस्प का ज्ञान भी नहीं कर पाते। ऐसी अपवित्रता है इस समय हम आपकी, किन्तु प्रभु में ये अपवित्रतायें नहीं हैं। हम आपके लिए आदर्श कौन है? हम किसकी ओर निगाह रखें कि हमें वैसा बनने में लाभ है, और प्रकार बनने में लाभ नहीं है, ऐसा आदर्श आत्मा है तो यह प्रभु है। तो जो केवल रहे, दूसरे का सम्बंध न रहे, ऐसे ही पवित्र आत्मा को परमात्मा कहते हैं।

दुनियावी लोग तो परमात्मा की, ईश्वर की इसमें तारीफ नहीं जान पाते। वे समझते हैं कि जिसके पास बहुत से देवता आते हों, वह जगत का बड़ा हिसाब किताब भी रखता हो, जो भक्तों को सुख देता हो, जो भक्त नहीं हैं उन्हें दु:ख देता हो, सब जीवों की व्यवस्था जिसने अपने शिर रख ली हो उसको लोग भगवान मानते हैं लेकिन उसमें तो प्रकट अपवित्रता है, क्योंकि वहां पर के प्रति लगाव है। केवल में केवल को समा देने वाला परम आत्मा पवित्र है और उसकी आराधना में प्रभाव है।

पवित्रता में ही शान्ति का लाभ- पवित्रता को इंगलिश में कहते हैं प्योरिटि। कैवल्य संस्कृत का शब्द है, जिसका दूसरा अर्थ है खालिस। जो आत्मा आत्मा ही रह गया, उसके साथ किसी दूसरी चीज का सम्बंध न हो उसे कहेंगे पवित्र (प्यौर)। हम आप जब तक ऐसा नहीं बन सकते केवल तब तक संसार में रूलते रहेंगे, यहां के पाये हुए थोड़े से सुख साधनों का कोई महत्त्व नहीं है। ये सब क्षोभ को उत्पन्न करने वाले हैं। जब तक कैवल्य न प्रकट हो तब तक हम आपको शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती। क्या चाहिए? हम हम ही रह जायें, हममें दूसरी चीज का सम्बंध न हो, बस वही धर्म है, वही धर्म का फल है और वही परमात्मतत्त्व की प्राप्ति है कि हम जैसे हैं, जितने हैं उतने ही रह जायें, हममें दूसरी चीज का सम्बंध न रहे, यह चाहिए हम आपको। अब अपने दिल में खोजो, क्या यह निर्णय आपने बना पाया कि हमको क्या बनने में लाभ है? धनी बनने में लाभ है या दुनिया का नेता बनने में लाभ है या बड़ा प्रतिष्ठावान् बनने में लाभ है? यदि धनिक हो गए तो क्या लाभ मिलेगा? आकुलतायें और बढेंगी, राज्यकर्मचारी और सतायेंगे। बन्धुजनों के भी हम कृपापात्र न रह पायेंगे सभी लूटने की बात सोचेंगे। मित्रजन इसीलिए मित्रता बनायेंगे। धन का लोभ इस आत्मा के लिये श्रेयस्कर नहीं है। यह तो पुण्योदय से मिलता है, पर धन के कारण जीव को शान्ति हुआ करती हो सो बात नहीं। कितने ही गरीब लोग बड़े शान्त सुखी नजर आते हैं, शान्ति ही तो चाहिए वह मिलती है बुद्धि से, ज्ञान से, विचार से, न कि वैभव से। बल्कि वैभव तो विकार का आश्रय बन जाता है,

वैभव में विकार की आश्रयभूतता का एक दृष्टान्त- दो भाई थे। वे परदेश गए धन कमाने के लिए। खूब धन कमा लिया और सोचा कि इस सब धन को घर कैसे ले जायें? सो सारा धन बेचकर दो कीमती रत्न खरीद लिये। चले अब अपने देश को। रास्ते में पड़ता था समुद्र। सो समुद्री जहाज में बैठे हुए जा रहे थे। वे दोनों रत्न बड़े भाई के पास थे। रास्ते में वह बड़ा भाई सोचने लगा कि इस समय दोनों रत्न हमारे पास हैं। घर जाने पर एक रत्न छोटा भाई ले लेगा सो अच्छा होगा कि इसको समुद्र में ढकेल दें। फिर तो हमें दोनों रत्न मिल जायेंगे। थोड़ी ही देर में तुरन्त संभल गया और विचार करने लगा- ओह ! धिक्कार है। ऐसे रत्नों के पीछे हमने अपने छोटे भाई की जान लेना सोचा। सो वह अपने छोटे भाई से कहता है- भाई, ये रत्न तुम अपने पास रखो। इनको हम अपने पास न रखेंगे। जब छोटे भाई ने उन रत्नों को अपने पास रख लिया तो थोड़ी ही देर में उसके भी खोटे भाव बने। सोचा कि इन रत्नों को तो मैंने अपने दिमाग

से कमाया है, बड़े भाई का तो सिर्फ थोड़ा सा सहयोग रहा और घर जाने पर ये बँट जायेंगे। अच्छा होगा कि हम अपने इस बड़े भाई को समुद्र में ढकेल दें। यह मर जायेगा और ये दोनों रत्न हमारे हो जायेंगे। वह भी तुरन्त संभल गया और अपनी गल्ती पर पछतावा करने लगा। उसने भी उन रत्नों को अपने पास रखना स्वीकार न किया। खैर, किसी तरह से घर पहुंचे, तो उन रत्नों को मां को दे दिया। मां वृद्ध थी। उसने उन रत्नों को पाकर विचार किया कि- वृद्धावस्था में कोई सहारा नहीं देता, यदि अपने पास धन रहेगा तो सभी मददगार होंगे। अच्छा होगा कि इन रत्नों को छिपाकर रख दें और इन दोनों बेटों को किसी तरह से मरवा दें। इतने खोटे भाव बनते ही वह माँ भी तुरन्त संभल गयी और अपनी गल्ती पर अपने को ही धिक्कारने लगी। उस मां ने भी उन रत्नों को अपने पास रखना स्वीकार न किया। फिर वे दोनों रत्न उन दोनों भाईयों ने अपनी बहिन के पास रख दिये। बहिन भी सोचने लगी कि ये रत्न तो बड़े कीमती हैं। ये दोनों भाई हमसे ये रत्न ले लेंगे। अच्छा होगा कि खाना तो हम ही बनाती हैं। खाने में विष मिलाकर इन दोनों भाईयों को खिला दें। ये मर जावेंगे तो ये दोनों रत्न हमें मिल जायेंगे। थोड़ी ही देर बाद वह भी संभली और अपनी गल्ती पर बड़ा पछतावा किया। उसने भी उन रत्नों को अपने पास रखना स्वीकार न किया। अन्त में उन सबने एक दूसरे से अपने मन में उत्पन्न हुए खोटे भाव बताये और यह निर्णय किया कि इस धन से तो वह पहिली वाली गरीबी भली थी। सो उन रत्नों को समुद्र में फिकवा दिया। पहिले की भांति गरीबी में निवास करके सुख से रहने लगे। तो यह धन वैभव बड़े विकार का कारण बन जाता है। इस धन वैभव से शान्ति नहीं मिलती। शान्ति मिलती है आत्मस्वरूप की ओर दृष्टि करने में।

कैवल्य पाने के उपाय में सत्समागम की सफलता- भैया ! आप आज बड़े हुए हैं, सुख सुविधायें मिली हैं, अच्छा कुल मिला है, सब बातें अच्छी मिली हैं तो इस आत्मस्वरूप के ज्ञान की कमाई कर लें अन्यथा यह दुर्लभ नरजन्म यों ही बेकार चला जायेगा। तो यहाँ शरण लेने योग्य यदि कोई हो सकता है तो वही हो सकता है जो पवित्र हो। अपवित्र हो उसकी शरण लेने से क्या लाभ? पवित्र वह कहलाता है जो खालिस आत्मा ही आत्मा कहलाता है। उस आत्मा के साथ कोई दूसरी चीज न लिपटी हो। यहाँ हम आपके पास अनन्त तो शरीर के परमाणु लिपटे हैं, अनन्त मनोवर्गणा के परमाणु लिपटे हैं, अनन्त कर्मपरमाणु लिपटे हैं और इन लिपटावों के प्रभाव में विषय कषाय, वान्छा, तर्क वितर्क आदि नाना तरंग उठ रहे हैं जिनसे हम अपने आपको खो बैठे। पहिले आप यह निर्णय कीजिए कि हमें करना क्या है? इसी निर्णय पर धर्मपालन सम्भव है। हमको बनना है खालिस, जो मैं हूं सो ही बस यही बनने का भाव है। यह बात जिस दिन से चित्त में आ जायेगी, सच्चा मार्ग मिलेगा, मोक्षमार्ग मिलेगा, तभी से शान्त रहने लगेंगे। जगत की विडम्बना देखकर। किसी भी परपदार्थ का कुछ परिणमन देखकर आकुलित न हों। हमको बनना है केवल, ज्ञानमात्र। अन्य कुछ नहीं। अगर अपना लगाव परपदार्थों से लगा है। उनके प्रति अनेक प्रकार के सोच विचार प्रयत्न किये जा रहे हैं तो क्या केवल बना जा सकता है? पुत्र मित्र स्त्री परिवार घर

आदिक में लगाव लगा रहे, उनमें मोह कर रहे, उनकी ओर दृष्टि दे रहे, अपना उपयोग उनमें रख रहे तो क्या इस यत्न से हम केवल बन सकेंगे? क्या खालिस रह सकेंगे? कभी भी सम्भव नहीं है। इतना तो अभी विचारना चाहिए कि मैं तो खालिस अभी भी हूं। स्वरूप से देखो तो सबसे न्यारा अब भी हूं। मेरे स्वरूप में किसी दूसरी वस्तु का प्रवेश नहीं है। मैं ज्ञानमात्र हूं, अमूर्त हूं। आकाश में रहकर भी आकाश से निराला हूं। अन्य की बात तो छोड़ो। देह में रहकर भी देह से निराला हूं और गृहस्थी के कारण गाँव में, घर में रहते हुए भी ग्राम और घर से निराला हूं। मैं केवलज्ञानमात्र हूं, यह बुद्धि अगर जग जाय तो सचमुच में अमीर हैं, तो ऐसी पवित्रता जहाँ प्रकट हुई है उन परमात्मा की यहां आराधना की जा रही है और ऐसी पवित्रता प्रकट करने के लिए जिन्होंने दृढ़ संकल्प किए हैं जो पूर्णतया प्रयत्नशील हैं ऐसे आचार्य, उपाध्याय और साधुवों की आराधना की जा रही है। यह आराधना देव सम्पदा को प्राप्त कराने वाली है।

पन्चनमस्क्रियाक्षरमयी देवता में मुक्तिश्रीकारिता व चतुर्गतिदु:खहारिता- पन्च परम गुरु सभी आत्मा मोक्ष से सम्बंधित हैं, सिद्ध भगवान को साक्षात् मोक्ष प्राप्त हुआ है। अरहंत भगवान को भी घातक कर्मों से मोक्ष प्राप्त हो तो गया है, पर अभी अघातिया कर्म के सम्बन्ध से मोक्षस्थान में नहीं हैं। यहाँ ही दुनिया में विहार कर रहे हैं, लेकिन वे भी मुक्त हैं, आचार्य, उपाध्याय, साधु यद्यपि इस समय मुक्त नहीं हैं, लेकिन वे मोक्षमार्ग में लगे हुए हैं। तो चूंकि मोक्ष मार्ग से मोक्ष से इन पंच देवताओं का सम्बंध है अतएव इनकी आराधना करने से मुक्तिश्री वश में हो जाती है, अर्थात् जो भक्तिभाव से स्वरूप विचार कर पंचपरमेष्ठियों की आराधना करता है उसे मुक्ति प्राप्त होना अवश्यंभावी है। पंच नमस्कार की वर्णोंमय यह आराधना चारों गतियों में उत्पन्न हुई विपदाओं का विनाश कर देती है। वस्तुस्वरूप का सत्यज्ञान होना, परपदार्थ पर ही है, यह ज्ञानमय अन्तस्तत्त्व यह ही मैं हूं, मेरे से अतिरिक्त अन्य पदार्थ अत्यन्त निराले हैं, ऐसा जिसका दृढ़ श्रद्धान हो और जिसका यह निर्णय हुआ कि केवल ज्ञानमात्र आत्मा के रहने में ही वास्तविक शान्ति है और ऐसा ही इसका होना है उस पुरूष की इन केवल आत्माओं में रूचि जगेगी और जहाँ ज्ञानमात्र आत्मा में भक्ति जगी वहां चारों गति के संकट अवश्य नष्ट होंगे।

स्थावरों के क्लेश- गतियों में कितना घोर दु:ख है। इस जीव की सबसे पहिली स्थिति निगोद की थी। निगोद कहते किसे हैं? ये संसारी जीव दो प्रकार के हैं- त्रस और स्थावर। जहां दो इन्द्रिय हों, तीन इन्द्रिय हों, चार इन्द्रिय हों, 5 इन्द्रिय हों वे तो त्रस कहलाते हैं और जहां जीभ, नाक, आँख, कान आदिक कुछ न हों, केवल एक शरीर ही शरीर हो उसे स्थावर कहते हैं। जैसे- पृथ्वी, जल अग्नि, वायु, पेड़ वनस्पति वगैरह। अब वनस्पति के दो भेद होते हैं- एक हरी वनस्पति और दूसरी निगोद वनस्पति। हरी वनस्पति फल, फूल, पेड़ वगैरह कहलाते हैं और निगोद नाम की वनस्पति जो हरी नहीं है, जिसका सूक्ष्म शरीर है, जो एक श्वास में 18 बार जन्ममरण करके घोर दु:ख भोगता है वह निगोद कहलाता है। हम आप सब

जीव सबसे पहिले अर्थात् अनादिकाल से निगोद पर्याय में थे। अब आप यहाँ यह जान सकेंगे कि हम संसार की कितनी दुर्गतियों को पार करके आज इस श्रेष्ठ मनुष्यजन को धारण किए हुए हैं। ये जीव सर्वप्रथम निगोद अवस्था में थे। उस निगोद से तो ये 5 स्थावर अच्छे हैं। निगोद की दशा इन 5 से भी बुरी है। निगोद से किसी तरह निकले तो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और प्रत्येक वनस्पति हुए। ये पांचों ही पर्याय निगोद से कुछ अच्छी हैं, लेकिन हैं ये एकेन्द्रिय ही। जिनका ज्ञान अत्यन्त हीन है ऐसी पर्यायों में बहुत काल व्यतीत किया।

त्रस जीवों के क्लेश- कुछ शुभ उदय आया है कि स्थावर से निकलकर दो इन्द्रिय जीव हुआ। अब दो इन्द्रिय जीव में रस लेने की शक्ति आयी। रस का भी सुख लेने लगा। कोई भय की चीज हो तो उससे अलग हटने की भी उसमें सामर्थ्य आयी। पैर तो नहीं हैं मगर छाती के बल पर जैसे केचुवा जोक शंख कीड़ा वगैरह चलते रहते हैं। कुछ ज्ञान और बढ़ा तो दो इन्द्रिय से तीन इन्द्रिय में आ गया। वहाँ नासिका भी प्राप्त कर ली, जैसे चींटा चींटी वगैरह कुछ और ज्ञान बढ़ा तो तीन इन्द्रिय से चार इन्द्रिय हो गया। इस चार इन्द्रिय जीव के चक्षु और बढ़ गए, जैसे पतंगे, मक्खी, मच्छर, टिड्डी, ततैया आदिक। चार इन्द्रिय से निकलकर पन्चेन्द्रिय हुआ, उसके कान भी बढ़ गए। अब सुनने का भी ज्ञान करने लगा। लेकिन मन न हो तो उनका भी जीवन इन्हीं विकलत्रयों की तरह है। पन्चेन्द्रिय असंज्ञी जैसे पानी में रहने वाले साँप वगैरह होते हैं। वहाँ से निकलकर मन वाला हुआ। मन वाला भी यदि सिंहादिक क्रूर जानवर हुआ तो वहाँ भी पाप करके दु:खी हो गया और कदाचित् हो गया निर्बल तो बलवान जानवरों के द्वारा खाया गया। इन पशुवों के भी दु:ख की कहानी क्या कहें? अनेक के दु:ख तो आँखों दिखते हैं। सूकरों पर कौन दया करता है? तुच्छ लोग तो यह निर्णय किए बैठे हैं कि इनको लोग मारें और खायें। पहिले तो उनसे कुछ काम लेते हैं, जब कुछ काम कर सकने योग्य न रहें तो उन्हें मार डालते हैं।

नारक मनुष्य व देवगति के क्लेश- तिर्यन्च गति से निकलकर किसी तरह नरकगति में पहुंचे तो वहाँ के दु:ख क्या कहना? जहाँ इतने दु:ख होते हैं कि हजारों बिच्छुवों के काटने से भी उतना अधिक दु:ख न हो। ठंड गर्मी का दु:ख, आपस की लड़ाई का दु:ख, असुर कुमार के देव भिड़ाते हैं उसका दु:ख, भूख प्यास के दु:ख। यों दु:ख ही दु:ख में अनगिनते वर्षों की आयु व्यतीत होती है। वहाँ से निकलकर कदाचित् मनुष्य हुए तो मनुष्य होकर भी दु:ख ही दु:ख पाया, गर्भ का दु:ख, गर्भ से निकलते समय का दु:ख, बचपन का दु:ख, जवानी का दु:ख, बुढापे का दु:ख। कहीं ज्ञान नहीं प्राप्त किया। मनुष्य होकर मरे, फिर किसी गति में गए। कदाचित् यह देव भी हुआ तो देवों का शरीर वैक्रियक होता है। उनके शरीर में हाड़, मांस, खून आदिक नहीं होते, भूख प्यास भी नहीं लगती, हजारों वर्षों में कभी भूख प्यास भी लगी तो उनके कंठ से अमृत झड़ जाता है और वे तृप्त हो जाते हैं। ऐसे सुख साधनों में भी जीव गया लेकिन तृष्णा के कारण वहाँ भी दु:खी रहा। कषायें 4 होती हैं क्रोध, मान, माया, लोभ। क्रोध कषाय की तीव्रता

नारकियों में पायी जाती है, मानकषाय की प्रबलता मनुष्यों में, माया कषाय की प्रबलता तिर्यन्चों में और लोभ कषाय की प्रबलता देवों में पायी जाती है। भला बतलावो जिन देवों को कोई रोजगार, व्यापार, खेती, आदि नहीं करना है, कल्पवृक्षों से अपने आप मनचाही चीजें प्राप्त होती हैं फिर भी अपने से अधिक ऐश्वर्य वाले देवों को देखकर वे मन ही मन कुड़ते हैं और विकट तृष्णा के कारण वे दु:खी रहा करते हैं। उनको इष्ट वियोग भी नहीं होता। अगर कोई देवी मर गयी तो अन्तर्मुहूर्त में ही दूसरी देवी उत्पन्न हो जाती है और अन्तर्मुहूर्त में ही वह जवान हो जाती है। तो वहाँ इष्ट वियोग का भी दु:ख नहीं, पर तृष्णावत वे निरन्तर दु:खी रहा करते हैं। तो अपने आपको यह जान गये होंगे कि मनुष्यों में यह मानकषाय कितनी प्रबल है। मान होना चाहिए फिर यह जीव राजी। यह मनुष्य धन से राज़ी नहीं है, धन तो मान के लिए बढ़ाना चाह रहा है। चूंकि ऐसा मान रख है कि दुनिया में धन के कारण इज्जत बढ़ती है इसलिए लोग धन बढ़ाने के प्रयत्न में रहा करते हैं। वह धन का बढ़ाना भी मानकषाय के पोषण के लिए है। कहीं अपमान हो रहा हो तो अपना मान रखने के लिए लोग धन के खर्च होने की परवाह नहीं करते। तो मनुष्यगति में मानकषाय की तीव्रता है।

निर्मान होकर पवित्रता पाने का अनुरोध- अपना प्रयत्न यह होना चाहिए, ज्ञान ऐसा बनना चाहिए कि मानकषाय हमारी मंद हो। काहे का मान? ये संसार की सब चीजें अपवित्र हैं। यहां पवित्र तो प्रभु हैं जो केवल ज्ञानस्वरूप हैं। जिनके साथ कोई झंझट नहीं लगा है। जिनके साथ न शरीर का सम्बंध है, न कर्म का। वे ही पुरूष इस जगत में पूज्य हैं। जो पुरूष ऐसे पवित्र आत्मा की आराधना करता है उसके चारों गतियों के संकट दूर हो जाते हैं। जो पंच परमगुरू की पूजा में उपासना में लगा हो, इन पंच गुरूओं के गुणों में लगा हो उस पुरूष में पाप नहीं ठहर सकते। भला उपयोग तो एक है। जब हम अपने उपयोग में निर्मोह आत्मा के गुणों को नहीं बसाते हैं तो प्रकृत्या मोह में ही उपयोग फंसेगा, और वहां पाप है। जब निर्मोह, पवित्र, ज्ञानमय आत्मा की वंदना में उपयोग रहता है, उनके गुणों का स्मरण उपयोग में रहता है, तब यह पाप नहीं हो सकते, तो पंच गुरूवों की यह आराधना पापों से विद्वेष रखती है। तो जहां पंच गुरूवों की आराधना बस रही हो वहां पाप नहीं ठहर सकते, हम आपका वास्तव में रक्षक है अपने आप के स्वरूप का स्मरण, ध्यान, आराधना, और बाह्य में अगर कोई रक्षक है तो परमात्मा और गुरू। देव और गुरु, इसी कारण हम आपको देव और गुरु के सम्बंध में कोई भ्रम नहीं रखना चाहिए। देव का जो सत्यस्वरूप है उसे समझकर उसे देव मानें। देव वह होगा जो पवित्र हो। पवित्र वही कहलायेगा जो बाह्यसम्बंध से रहित हो और अपने सत्यस्वरूप में हो, अर्थात् वीतराग और सर्वज्ञ वही देव कहला सकता है। हम रागद्वेषी को भगवान (देव) के रूप में स्वीकार न करें। आजकल लोग सोचते हैं कि चाहे कोई भी भगवान (देव) हों, सब भगवान (देव) एक समान हैं, सब गुरु एक समान हैं, किसी भी मजहब के हों। लेकिन यह सोचिये कि हमको करना है आत्मकल्याण। अर्थात् हमें बनना है खालिस आत्मा। मैं ज्ञानमात्र

आत्मा ही रह जाऊँ, मेरे साथ अन्य झंझट न रह जायें ऐसा पवित्र आत्मा मैं बन जाऊँ तो ऐसा बनने के लिए हमें आदर्श उनको मानना होगा जो रागद्वेष से रहित हों। जिनके साथ स्त्री पुत्रादिक हों वे मेरे देव नहीं। जो हाथ में शस्त्र लिए हों, शुद्ध भी करते हों वे मेरे देव नहीं। जो दोष करने वालों को दण्ड आदिक की व्यवस्था करते हों वे मेरे देव नहीं। ऐसे देवों की आराधना करने से हमारे प्रयोजन की सिद्धि कैसे हो सकती है? अर्थात् मैं आत्मा केवल ज्ञानमात्र रहूं यह तो हम चाहते हैं और हम अज्ञानी, मोही, परिग्रही देवों की सेवा करते हैं तो उससे कुछ भी सिद्धि न होगी; पुण्य भी न बनेगा। इसी प्रकार गुरूवों की भी बात सोचो, जो विकृत भेष बनाये हों, सिर में बड़े-बड़े जटा रखाये हों, शरीर में भस्म रमाये हों, चिमटा त्रिशूल आदि रखे हों, साथ में हाथी घोड़ा आदिक आडम्बर रखे हों, महंत हों, जिनके पास बाग़ बगीचे भी हों, झौंपड़ी हो, खाने पीने के साधन भी जो अपने साथ लिए फिरते हों, उनको अपना गुरु मानकर हम कुछ भी सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकते। मेरा प्रयोजन है कि मैं मैं ही रह जाऊँ, मुझमें दूसरी चीज का सम्बंध न रहे तब ही तो मैं शान्त रह सकूँगा। तो ऐसा बनने के लिए हमें ऐसी ही धुन वाले गुरु चाहिए, जिनकी सेवा करके हम अपना उद्देश्य सही बना सकें और अपने विचारे हुए उद्देश्य को सफल कर सकें। ऐसी बात हम आपको इन पंचगुरूवों में ही मिलेगी अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इसी कारण इनके गुणों की भक्ति से हम संसार के समस्त संकटों को दूर कर लेते हैं।

दु:ख के कारणभूत छह शत्रु- प्राणियों के जितने भी कष्ट है वे हैं मोह, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, इन 6 विकारों के कारण जिसके मोह है उसको चैन वहाँ? और साथ ही वह मोह है अज्ञान के कारण, विपरीत परिणाम। तो जहाँ पर में दृष्टि है, पर को निज मानने की दृष्टि है, पर को अपनाने की दृष्टि बनी है, वहाँ चूंकि वे पर अनर्थ हैं, भिन्न हैं, उनका समागम उनके मन के अनुकूल नहीं हो पाता अतएव वे निरन्तर बैचेन रहते हैं। लेकिन यह बात यदि हो भी जाय तो वह निभेगी कब तक? वियोग तो उसका होगा ही। यह जीव मोह में बैचेन है। बड़े-बड़े महापुरूष भी जब तक मोह करते रहे तब तक बैचेन रहे। तो इस जीव के अन्त: ये 6 भाव हैं। बाहर में कहाँ कोई बैरी दिखता है? दूसरा बैरी है काम? इस काम को मनोज कहते हैं। यह विकार केवल मन से उत्पन्न होता है। जहाँ मन नियंत्रित न रहा वहाँ वह खोटा भाव उत्पन्न हो जाता है, और उस खोटे परिणाम के कारण यह जीव बैचेन रहता है। क्रोध कषाय में यह जीव खुद का भी विनाश कर लेता है और दूसरे का भी विनाश कर देता है। कोई महिला अगर मिट्टी के हाँडे में 3-4 किलो घी लिए है तो गुस्से में आकर उसे भी पटक देती है। गुस्से में आकर उसे कुछ विवेक नहीं रहता है। यह क्रोध एक बहुत बड़े अनर्थ का कारण बन जाता है। द्वीपायनमुनि ने क्रोध में आकर अपनी नगरी को जला दिया था जिसमें खुद भी भस्म हो गए थे। तो यह क्रोध भाव भी इस जीव के लिए बड़ी बेचैनी का कारण है। अभिमान भी जीव की बड़ी बेचैनी का कारण है। यह अभिमान किसी का जम नहीं सकता, क्योंकि सभी प्राणी अपना-अपना बड़प्पन चाहते हैं। अभिमान में सिवाय दु:ख के

कुछ लाभ नहीं प्राप्त होता। मायाचार भी जीव के लिए बड़ी बेचैनी का कारण है। इससे अंत: ही अंत: चिन्ता, शोक, परेशानियाँ बनी रहा करती हैं। और लोभ कषाय को सभी लोग समझते हैं। जीवन में अनेक बार अनुभव भी किए होंगे। कभी थोड़ा सा लोभ किया तो उसके बदले में सैकड़ों हजारों का नुकसान सहना पड़ता है तो इस प्रकार से ये सभी खोटे भाव इस जीव के दु:ख के कारण हैं।

दु:खों से छुटकारा पाने की चिन्तना- अब विचार कीजिये कि क्या संसार के इन दु:खों को मेटने का कोई उपाय भी है? हाँ उपाय तो है। यही उपाय है कि ये छहों विकार भाव न रहें, या जो ऐसे स्वरूप वाले हैं जिनमें ये छहों विकार नहीं रहे उनके स्वरूप का ध्यान करें, उनकी उपासना करें। इस ही उपाय से ये सभी दु:ख मिट सकते हैं। जैसे खून का दाग कभी खून से नहीं धुल सकता, जल से ही धुलेगा, इसी प्रकार इन छहों प्रकार के विकार भावों का दु:ख इस णमोकार मंत्र से धुल सकता है न कि विकारवान परिजन, मित्रजन के सम्पर्क से। तो इन समस्त दु:खों के मेटने के लिए विकाररहित जो अपना सहज स्वरूप है उसको दृष्टि में ले तो यहाँ इस विकारजन्य दु:ख से भयभीत हुआ समाधिभक्त संत भावना कर रहे है पंच परमगुरूवों की और उन परम गुरूवों के गुणों का स्मारक जो नमस्कार मंत्र है उसकी आराधना करता है। वह इस स्वरूप की आराधना को देवता समझता है और महिमा गा रहा है कि यह पंच नमस्कार के अक्षरमय आराधना जीव को दुर्गमन से बचाती है। वह दुर्गमन क्या? इन छहों प्रकार के शत्रुवों से घिर जाना यही इस जीव का दुर्गमन है। चारों गतियों में यह नाच दिख रहा है अज्ञान का। यह अज्ञान बडा़ घमंड करता हुआ सारे विश्व को कुचलता हुआ नृत्य कर रहा है। इसका सब प्राणियों पर राज्य है। ऐसा एक मद में ही आकर यह अज्ञान नृत्य कर रहा है। इससे छुटकारा वह ही मनुष्य प्राप्त कर सकेगा जिसने यथार्थ ज्ञान किया। सम्यग्ज्ञान की ऐसी महिमा है कि एक बार भी यदि झलक जाय तो फिर चाहे किसी प्रकार के कर्म विपाकवश गिर भी जाय लेकिन उसकी स्मृति रहेगी। तो किसी दिन अवश्य ही संकटों से वह मुक्त हो लेगा।

णमोकारमंत्र में शुद्ध तत्त्व व शुद्ध हित का दर्शन- यह एक णमोकार मंत्र है जो प्राय: पूजन दर्शन के समय सब लोग गाते हैं- णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं, णमो आउरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमोलोए सव्वसाहूणं।। इस मंत्र में किसी का नाम नहीं लिया गया। ऋषभदेव, महावीर, श्रीराम, हनूमान आदिक किसी भी भगवान का इसमें नाम नहीं लिया गया, क्योंकि जिसका नाम रखा वह भगवान नहीं है और जो भगवान है उसका नाम नहीं होता। भले ही यहां हम आप लोग नाम रख लेते हैं कि यह अमुक राजा के पुत्र थे, अमुक वंश के थे, अमुक जगह उत्पन्न हुए थे, पर जो आत्मा सर्वप्रकार के कर्मों का, सर्व विकार भावों का परित्याग करके शुद्ध हुआ उसका कोई नाम भी है क्या? पहिले गृहस्थावस्था में उनका जो नाम रख दिया गया था उस नाम को लेकर उनकी महिमा हम आप लोग गाते हैं। पर साक्षात् रूप से देखो तो भगवान ज्ञानपुंज को कहते हैं। यह तो अज्ञान है जो मनुष्यों में परस्पर में धर्म के नाम पर लडाईयां होती

हैं। सभी लोग अपने-अपने धर्म की बातें गाते हैं, पर धर्म नाम है किसका और धर्म के लिए करना क्या है, किसे जपना है, इसका यदि यथार्थ स्वरूप समझ में आ जाय तो कलह की कोई गुन्जाइश नहीं है। पहिले तो हम आप लोग यह निर्णय करें कि हम जीव है, दु:खी हैं, हमें सुखी होना है, शान्त होना है, सदा के लिए संकटों से छुटकारा पाना है, बस यही हमारा उद्देश्य है। यदि यह निर्णय न रखकर पर्यायबुद्धि किए हैं, जाति कुल, मजहब आदि में दृष्टि है, तब यदि अपने धर्म का प्रचार करते हैं तो इससे जीव का उद्धार न हो सकेगा। अपने आपके अन्दर सोचे कि मैं जीव हूं, आत्मा हूं, जानन देखनहार एक पदार्थ हूं, मैं हो गया मनुष्य यह बहुत बडा़ भाग्य है। अब मुझे ऐसा उपाय बनाना है कि इस जन्ममरण से हमें छुटकारा प्राप्त हो जाय। भीतर में यदि यह भाव जगे तब तो धर्म की समस्या सुलझ सकती है और यदि शरीर को निरखकर ही अपने जातिकुल, धर्म के प्रचार की कोई बात करे तो उससे धर्म की समस्या सुलझ नहीं सकती। जिस मजहब में हम पैदा हुए हैं उसका बहुत प्रचार हो, जाय, इससे हमें क्या मिलेगा? यदि वास्तविक तत्त्व है कुछ तो उसका प्रचार हो। तो उससे इन विपत्तियों से छुटकारा प्राप्त करने का अवसर प्राप्त हो सकता है। तो पहिले यह बात चित्त में आना चाहिए कि मैं आत्मा हूं, मुझे शान्ति चाहिए। कोई भी हो, लोक प्रसिद्ध किसी भी जाति में उत्पन्न हुए हों, आखिर जीव हैं, सब एक समान हैं। स्वरूपत: देखो, सबकी एक सी गति है, सबका एकसा स्वभाव है। तो पहिले यह निर्णय होना चाहिए कि मैं जीव हूं और मुझे शान्ति चाहिए। अब शान्ति के लिए वह यत्न करें वह परख करें। अपने आपकी परख करें कि मैं क्या हूं?

अन्तर में निर्णय से सर्व निर्णय- देखिये सारे निर्णय और सारे मार्ग, अपने हित के सारे प्रयत्न अपने आपमें सही निर्णय बनायें उससे बन सकेंगे। मैं क्या हूं? मैं अपने आप अपने ही सत्त्व के कारण क्या हूं? कैसा हूं? अब यह निष्पक्ष होकर जानकारी करने लगा, क्योंकि बाहर में इसने मोह नहीं रखा। मैं जीव हूं, मुझे शान्ति चाहिए, इस उद्देश्य को लेकर बढ़ रहे हैं तो सभी समस्यायें सुलझ जायेंगी। मैं क्या हूं? मैं एक जानने देखने वाला आत्मा हूं। और दु:ख मानने वाला मैं नहीं हूं क्या? हाँ मान तो रहा हूं दु:ख, पर दु:ख मेरा स्वरूप नहीं है। यदि दु:ख मेरा स्वरूप होता तो एक रूप से रहना चाहिए था। उसका ताँता न टूटना चाहिए थे। तो संसार के दु:ख रूप मैं नहीं। और संसार के सुख रूप भी मैं नहीं, क्योंकि यदि संसार के सुख रूप मैं होता तो फिर सुख का भी ताँता न टूटना चाहिए था। तो ये संसार के सुख दु:ख तो विकार हैं। मैं इन रूप नहीं। मैं तो किसी भी स्थिति में रहूं- केवल ज्ञानरूप हूं, ऐसी समझ यदि बने तो समझो कि धर्म यही है काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, मोहादिक विकारभाव करना, यह मेरा धर्म नहीं, केवल जानन देखनहार रहना, यही मेरा धर्म है। और, जो केवल जाननहार हैं वे हमारे लिए आदर्श हैं, पूज्य हैं, उपासनीय हैं। ऐसे उपासनीय भगवान को निरखकर हम भी अपने उद्देश्य में बढ़ें तो वे सब समाधान पा सकते हैं।

पन्च परम पदों का संक्षिप्त स्वरूप और णमोकार मंत्र में निष्पक्षता का दर्शन- जो विकार हित हैं, शुद्ध ज्ञानमात्र हैं, ज्ञानपुन्ज हैं ऐसे समृद्ध हैं कि जिनको तीन लोक, तीन काल के समस्त पदार्थ एक साथ स्पष्ट ज्ञात हो रहे हैं वह है भगवान का स्वरूप। ऐसे भगवान जब शरीर सहित रहते हैं तो उन्हें कहते हैं अरहंत और जब शरीर रहित हो जाते हैं तो उन्हें कहते हैं सिद्ध। तो इसमें कोई पक्ष की बात नहीं आयी। भगवान के स्वरूप का इसमें निर्णय है। भगवान का यह स्वरूप है और ऐसे विकास को प्राप्त करने के लिए जो प्रयत्नशील हैं उनका रूप क्या होता? घर से उन्हें प्रयोजन नहीं है। घर छूट गया, परिग्रह से उन्हें प्रयोजन नहीं, परिग्रह छूट गया। कोई काम काज से, आरम्भ से उन्हें कुछ प्रयोजन नहीं रहा। केवल एक आत्मस्वरूप, ब्रह्मस्वरूप, सहजस्वरूप ज्ञानज्योतिमात्र के ध्यान करने का ही प्रयोजन है तो आरम्भ भी छूट गया। केवल शरीरमात्र परिग्रह है और अपने आपके उस ज्ञानस्वरूप के ध्यान में यत्न करते वे कहलाते हैं आचार्य, उपाध्याय और साधु। तो इन पंच परम गुरूवों में किसी का भी नाम नहीं दिया गया, आत्मा के विकास का नाम है। अविकार आत्मविकास यही भरा है पंच परम गुरूवों में, इसी कारण इस णमोकार मंत्र का इतना माहात्म्य है कि जो श्रद्धा पूर्वक इसे जपता है उसके लौकिक संकट भी क्षण भर में दूर हो जाते हैं। तो मंत्र में सामर्थ्य इसी कारण आयी है कि जिनका जाप जपा जा रहा वे गुरु विकार रहित ज्ञान आत्मा हैं। कितना इस ज्ञानी संत का निष्पक्ष मार्ग है? नाम तक का भी जहाँ लगाव नहीं हैं। जो ज्ञानपुन्ज है, ज्ञानमात्र है वह भगवान है। देखिये आत्मा के नाते से भगवान का स्वरूप निरखा है उसने। इस अविकारी दृष्टि से भगवान का स्वरूप देखें, तो यह आराधना, यह अविकार ज्ञानस्वरूप की उपासना दुर्गमन का निवारण करा देती है और मोह को भी समाप्त कर देती है।

मोह से बरबादी और निर्मोहता से अभ्युदय- यह मोह इन सारे विश्व के प्राणियों पर ऐसा छा रहा है कि ये सब प्राणी बेहोश पडे हैं। लेकिन इस ज्ञानस्वरूप की उपासना में वह माहात्म्य है कि इसके प्रताप से यह मोह भी स्खलित हो जाता है। नष्ट हो जाता है तो जिस पुरूष को समता परिणाम में रूचि जागृत हुई है, जो चाहता है कि मैं रागद्वेष के सब झंझटों से अलग रहकर केवल जाननहार रहूं, ऐसा पुरूष अपने में इस स्वरूप को निरखता है और बाहर में तो समता के पुन्ज है उनको निरखता है। वे हैं ये पंच गुरु सशरीर भगवान, शरीररहित भगवान। और, साधक संन्यासियों के मुख्य मालिक, साधक संन्यासियों को पढ़ाने वाले साधु और साधु ये सब निर्मोह हुए हैं या निर्मोह होने के मार्ग में लगे हुए हैं। मोह ही एक ऐसा शत्रु है जो हम आपको बरबाद किए जा रहा है, हमें उस मोह को त्यागना है, यह दृष्टि होनी चाहिए। जीवन कितना है, कितनी पर्यायें पायीं, सब भवों में मोह किया, पर उस मोह से लाभ कुछ न हुआ अब तक जन्ममरण की परम्परा बनाते चले जा रहे हैं। इस मोह को दूर करने से ही लाभ मिलेगा। यदि आपको अपने परिजनों से प्रेम है तो यत्न यह करना चाहिए कि हम निर्मोह रहकर वीतराग के उपासक होकर अपना कल्याण करें और ये सब भी वीतराग के उपासक होकर अपना कल्याण करें। हम सब

परस्पर में एक दूसरे को धर्म मार्ग में बढ़ने में मदद करें। यह है आपकी अपने परिजनों के प्रति सच्ची मित्रता और सच्चा बान्धवपना। और, अगर हम खुद उन परिजनों में राग कर रहे, मोह कर रहे तो समझो कि खुद भी बरबाद होंगे और दूसरों को भी बरबाद करने के कारण बनेंगे। तो हम आपको चाहिए कि इस मोहभाव को दूर करें, इस मोह को दूर करने के लिए निर्मोह आत्माओं की उपासना करें। इससे ही हम आपका मोह दूर होगा और इसी से हम आपके जीवन की सफलता है।

श्लोक 14

अनन्तानन्त संसार संततिच्छेद कारणम्।

जिनराज पदांभोजस्मरणं शरणं मम।।14।।

दु:खी जीवों का शरण लेने से विकल्प में विडम्बना- अज्ञान और दु:ख से भरे हुए इस संसार में अज्ञानी और दु:खी जीवों का आश्रय करना शरण नहीं हो सकता है, किन्तु जिस किसी भी बिरले पुरूष को अपने आपके संसरण में इस रहस्य का पता हो जाता है यह यही निश्चित करता है कि जो अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त शक्ति से सम्पन्न है ऐसे ज्ञान ज्योति स्वरूप आत्मा का स्मरण ही शरण है। जिन्होंने संसार की संतति का छेद कर दिया है उनके ही शरण में रहने से हमारा यह उद्देश्य निर्वाध हो सकेगा कि हम अनन्त संसार संतति का छेद कर दें। सम्यग्दर्शन की महिमा इस कारण बहुत-बहुत कही गयी है कि सम्यक्त्व भाव में यह सामर्थ्य है कि अनन्त संसार संतति का छेद कर दे। किसी मनुष्य को सम्यग्दर्शन हो जाय और कदाचित् सम्यग्दर्शन भंग भी हो जाय और वह मिथ्यात्व में कुछ कम अर्द्धपुद्गल परावर्तन तक भी रूले तो इसके बाद उसे सम्यक्त्व होकर निर्वाण होगा ही, तो इतना बड़ा लम्बा समय भी उस अनन्त संसार के सामने न कुछ जैसा समय है, उसे भी यही कहेंगे कि अनन्त संसार संतति का छेद उस सम्यक्त्व ने पहिले ही कर दिया <छुट गया> जिन पुरूषों के उस सम्यक्त्व के होने के बाद उसका लगाव बना रहता है ऐसे जीवों का तो कुछ ही भव में संसार समाप्त हो जाता है। लोग मोह के वश इन क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक विकारों में बने रहने पर भी अपने आपमें दूसरों से कुछ बड़प्पन मानते रहें, ऐसी प्रकृति बना लेते हैं, लेकिन यह संसार हैं सारा दु:खमय। ये विकार परिणाम क्लेशमय हैं। अपने स्वरूप से चिगकर बाह्य वस्तुओं की ओर झुकाव होना यही सर्व क्लेशों का मूल है।

निज सहज परमात्मतत्त्व की दृष्टि का शरण- जिसने यहाँ अपनी संभाल रखी वह कदाचित् बाह्य क्रियावों में भी रहता हो तब भी वह अपने में सँभाला हुआ रहता है। साधु पुरूष जिसने आत्मानुभव का क्षण-क्षण में अभ्यास किया है ऐसा पुरूष यदि मानो कहीं विहार कर रहा है तो विहार करते-करते भी उसकी दृष्टि अपने ज्ञायकस्वभाव पर पहुंची रहती है। और लोगों को भले ही वह दिखे कि यह विहार कर रहा है, इतना समय हो गया है, यह क्या अभी प्रमत्त गुणस्थान में ही है लेकिन बीच-बीच वह अपनी

अनुभूति का स्वाद लेता रहता है और लोगों को अन्तर नहीं दिखाई देता है, और उसकी प्रवृत्ति में भी सावधानी है और आत्मस्वरूप की ओर अभिमुख होने में भी सावधान रहता है। अप्रमत्तविरत गुणस्थान का काल सेकेण्ड के करीब का है, सेकेण्ड से भी कम का है और उससे भी कुछ अधिक का है, इतने समय दृष्टि आ जाना यह बात अभ्यास करने वाले के लिए सहज है, एक क्षण की भली दृष्टि का प्रताप ऐसा है कि बहुत काल तक भी उसके प्रताप से अनाकुलता रहती है, तो जो विकासपसंद जीव हैं उनकी शरण लेना यह अपने लिए लाभकारी बात नहीं है। जो अविकार ज्ञानस्वभाव की ही रूचि रखते हैं और इस कारण उनको बाह्य में प्रीति नहीं, बाह्य में अधिक वृत्ति नहीं, सहज प्रवृत्ति है, जान लगाकर नहीं, उपयोग लगाकर नहीं, दूसरों पर अपना प्रभाव जमाने के लिए नहीं किन्तु अपनी दृष्टि के लिए अपने वचन बोलते हैं, अपनी संभाल करते हैं, साथ ही कुछ कषायें लगी हैं उससे प्रवृत्ति चलती है, लेकिन उसमें अपना लाभ प्राप्त कर लें उनकी योग्यता पर निर्भर है। पर यह निश्चित है कि विकार में यदि रूचि जगे तो वह अनन्त संसार का कारण है और विकार करना पड़ रहा है, पर विकार में रूचि नहीं जगती है तो उनकी अनन्त संतति समाप्त हो जाती है।

जैनशासन के लाभ का सदुपयोग उठाने का निर्देश-देखिये जैन शासन पाया तो इसका खूब सदुपयोग उठायें और लाभ भी लें, सदुपयोग भी करें, आपके ज्ञान द्वारा साध्य है, कोई शरीर का कष्ट नहीं उठाना है। कोई धन वैभव कम है तो उसकी हैरानी यहाँ बाधक नहीं है। केवल एक अपनी ज्ञान दृष्टि से अपने में अपने को निरखना है। वह बात यदि की जा सकी तो ये सर्व समागम हमारे लिए लाभदायक सिद्ध हो सकते हैं। प्रभु ने अनन्त संसार की संतति का छेद कर दिया है, अब संसार से अत्यन्त अलग हैं, संसार उनमें नहीं पडा़ हुआ है, ऐसे जिनेन्द्र देव के चरणों का स्मरण ही मेरे लिए वास्तविक शरण है। धन्य होगा वह क्षण जबकि प्रभुभक्ति में हमारा समय अधिक बीते। जिसका प्रभुभक्ति में समय अधिक लग सकता है और सच्ची पद्धति से लग सकता है वह अपने आपमें अपने सहज ज्ञानस्वरूप की भी उपासना अनेक बार कर लिया करता है। जिसको जिसमें रूचि है वह उसका ही संग अधिक करना चाहता है। जिसको अपने अविकार ज्ञानस्वरूप की अनुभूति के लिए रूचि जगी है ऐसा पुरूष ही जिनराज के चरणस्मरण में अपना समय लगायेगा और जिसको नहीं रूचि जगी है अपने आपके सहजस्वरूप की तो उसका तो लोक में ही मनोरन्जन करके समय गुजरेगा। समय पर्वत से गिरने वाली नदी की तरह वेगपूर्वक गुजर रहा है। जो समय गुजर गया वह किसी भी उपाय से वापिस नहीं आने का। जिसकी जितनी आयु गुजरी है उसका अब कोई क्षण वापिस नहीं आने का। अब जितना समय रह गया है वह भी एकदम धड़ाधड़ गुजर ही तो रहा है। समय गुजर जायगा, और कुछ इस जैन शासन से लाभ न लिया जा सका तो सिवा पछतावा के और कुछ हाथ न आयगा अथवा पछतावा तक की भी बुद्धि न रहेगी। किसी अज्ञान वाले भव में उत्पन्न होंगे। तो यद्यपि मन नहीं लग रहा है धर्मकार्यों में विशेष, ऐसे अनेक जीव हैं, लेकिन

धर्म की ओर ध्यान अवश्य है। उन्हें यह चाहिए कि धर्म में मन तो लगाये से लगेगा। उसके लिए यह आवश्यक है कि ऐसे ग्रन्थों का स्वाध्याय करें कि जिनमें कुछ मन लग जाय और, यह सिलसिला यदि बन गया तो यह मन नियंत्रित हो जायगा और फिर धर्म के लिए हमारी सच्ची रूचि जग जायगी। ये सब कार्य सिद्ध हो जायेंगे। वीतराग सर्वज्ञ देव की भक्ति में रहकर अकिन्चन ज्ञानमात्र, ज्ञानानुभव की ही धुन रखने वाले साधुवों की सेवा में हमारा यह कार्य सिद्ध होगा। और निश्चयत: मेरी अपने आपकी दृष्टि की निर्मलता से ही मेरा कार्य सिद्ध होगा।

बाह्य में शरण की मान्यता की मूढता- इस लोक में हम आपका बाहर में कहीं कुछ भी शरण नहीं है। देखिये कितनी भली बात, सुगम बात, आनन्ददायक समाचार हमें जैन शासन ने दिया है। इस आत्मतत्त्व के ज्ञान बिना धर्म के नाम पर भी हम कहाँ कहाँ अपना दिल लगाते हैं, कितनी दयनीय अवस्था होती, अटपट कहानियों में, अटपट ऋषिजनों की करतूत में, हम सुनकर वाह-वाह करते, कितना मिथ्यात्व में पुष्ट रहा करते, और अब मिला है यह जैन शासन, जिसके कारण अब हमारा गल्पवाद में विश्वास नहीं रहा। जो सत्य हो, समीचीन हो उसमें ही विश्वास रहे। जो सत्य हो, समीचीन हो उसमें ही विश्वास करने की प्रवृत्ति बने। यह वस्तुस्वरूप अगर हमारे प्रयोग में, ज्ञान में, परीक्षण में सही उतरता है तो हम उसे मानने में तैयार रहें। खूब परख करके वस्तुस्वरूप का निर्णय कर लीजिये, सबकी स्वतंत्रता का निर्णय कर लीजिए। अणु-अणु प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र है। किसी भी पदार्थ का किसी भी अन्य पदार्थ पर कोई वश नहीं चलता। निमित्तनैमित्तिक भाव तो इसका माना है कि उस योग्य परिणम सकने वाला उपादेय योग्य निमित्त पाकर स्वयं अपने आपमें ऐसा प्रभाव बनाता है कि वह अपने परिणमन से परिणम लेता है। निमित्त ने कोई अंश ग्रहण नहीं किया। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का अत्यन्ताभाव है। उपादान का निमित्त में, निमित्त का उपादान में तो अत्यन्ताभाव है लेकिन कार्य के प्रति अन्वयव्यतिरेक का सम्बंध है, वही निमित्त कहलाता है। घर में रहने वाले जितने जीव हैं वे सब स्वतन्त्र हैं। पिता ने कह दिया, बेटा बेटी ने मान लिया तो पिता खुश होता है, हमारे ये पुत्र पुत्री बड़े आज्ञाकारी हैं। देखो जो हम कहते हैं सो ये करते हैं, लेकिन ऐसा हो कहाँ रहा है? पिता के कहने से वे बेटी बेटा काम नहीं करते, नहीं परिणमते, किन्तु उन बेटा बेटियों के भी भाव लगा हुआ है, कषाय लगी हुई है, स्वार्थ लगा हुआ है कि जिस प्रकार पिता कहे उस प्रकार से यदि मैं परिणति बनाऊँ तो मुझे बडा़ सुख होगा। मुझे बड़े आराम से रहने को मिल जायगा, यह पिता ऐसी ही चेष्टा करेगा जिससे मुझे सुख हो। वे बेटा बेटी तो ऐसे भावों में करके अपनी चेष्टा कर रहे हैं और यह पिता ऐसा भ्रम करता है के ये मेरे बेटी बेटे बड़े आज्ञाकारी हैं। अरे कौन किसका आदेश मानता? कौन किसकी इच्छा से परिणमन किया करता? सभी अपने-अपने भावों के अनुसार अपना-अपना परिणमन करते हैं।

वस्तुत: बाह्य में शरण का अभाव- यहाँ इन विकारी जीवों के बीच रहकर हम जब कभी थोड़ा बहुत यह निरखते हैं कि ये मेरे बहुत प्रेमी हैं, ये मेरी बहुत खबर रखते हैं, हमको सुख साधन की सुविधा दिया करते हैं। ये सब बातें भ्रम की हैं, कोई किसी को मानने वाला नहीं, मानना तो दूर रहा, पहिचानता तक तो है नहीं। मुझे कौन पहिचानता है? इन संसारी जीवों में, इन परिजनों में जिनमें हमारा मोह बस रहा ये सब मेरे को जानते तक भी नहीं हैं। वस्तुत: मैं क्या हूं? यह देह मैं नहीं, ये कषाय मैं नहीं, यह ऊपरी भेष भूषा मैं नहीं। मैं तो नाम रहित ज्ञान स्वभाव वाला एक सत् हूं, पदार्थ हूं, इसको ये लोग कहाँ जान रहे? और यदि कोई जान जाय तो उसके लिए मैं कहाँ रहा? उसकी दृष्टि में तो ज्ञान स्वरूप ही रहा। मैं तू आदिक जो व्यक्ति भेद है ये भेद मेरी निगाह में नहीं है जो मुझसे व्यवहार करता है, वार्तालाप करता है, सेवा शुश्रूषा आदिक जो कुछ भी करता है वह मुझे पहिचानता तक भी नहीं है। तो वह मेरा क्या कर देगा? अथवा मैं ही उसका क्या करता हूं? मैं अपने में ही बसा हुआ रहता हूं, मैं अपने में गुनगुनाता रहता हूं, भाव करता हूं, इच्छा करता हूं, दु:खी रहता हूं, सुख मानता हूं, अशान्त रहता हूं, मैं दुनिया में किसी दूसरे का कर ही क्या सकता हूं, यह दृष्टि जब जगती है तब वह वास्तविक शरण की खोज करता है और वह वास्तविक शरण इसे बाह्य में मिला तो यह वीतराग सर्वज्ञदेव के गुणों का स्मरण, सो वह भी देव मेरे लिए शरण नहीं, किन्तु देव के स्वरूप का स्मरण मेरे लिए शरण है तो वस्तुत: यह मैं ही अपने लिए शरण बना। तो यह जिनराज के चरण कमल का स्मरण, इनके स्वरूप का स्मरण, इनके ज्ञान दर्शन स्वरूप का स्मरण मेरे लिए शरण है और यही अनन्तानन्त संसार की संतति के छेद का कारण है।

संसारसंततिच्छेद का त्वरित और आवश्यक कर्तव्य- एक अमोघवर्ष राजा एहु और वे अन्त में निर्गन्थ साधु भी हुए। उन्होंने प्रश्नोत्तर रत्नमालिका रची। उसमें एक प्रश्न किया है कि अगर बुद्धि मिली है, ज्ञान मिला है तो विवेकी विद्वान पुरूषों को क्या कर लेना चाहिए? तो इसका उत्तर देते हैं। संसार संततिच्छेद: अर्थात् संसार की संतति का विनाश कर देना चाहिए। इससे उत्कृष्ट और कोई काम नहीं है। किसी की कृपा, किसी की आशा, किसी की प्रतिक्षा, किसी का प्रेम, किसी का अनुराग चाहने से क्या लाभ है? लाभ तो इसमें है कि हम आपने सत्त्व के ही कारण अपने आप जैसा हूं, उस सहज स्वरूप का निर्णय करूँ। उस सहज स्वरूप का अनुभव करूँ, सर्व विकल्पों का परिहार करके मैं अलौकिक स्थिति में आ जाऊँ, यह बात मेरे में मेरे से धीरतापूर्वक अपने आपमें समाया हुआ सा होकर, अन्तर्भूत सा होकर, अन्तर्धान सा होकर पा ली जाती है। इसमें दूसरे की आशा की जरूरत नहीं कृपा की जरूरत नहीं, आधीनता की आवश्यकता नहीं, अपेक्षा की जरूरत नहीं।

बाह्य स्थिति की उपेक्षा करके अन्तर्दर्शन का अनुरोध- पाप के उदय आ रहे आने दो। पाप के उदय से मेरा बिगाड़ नहीं है, किन्तु पापरूप बनने में मेरा बिगाड़ है। पाप के उदय क्या करेंगे? ज्यादा से ज्यादा या तो बाह्य सामग्री मेरी नष्ट हो जाय, धन वैभव कुछ कम हो जाय या नष्ट हो जाय, बाह्यपदार्थ यह जो

शरीर है उसमें कोई रोग हो जाय, या अधिक से अधिक हमारी मृत्यु हो जाय इससे अधिक यह पाप का उदय और क्या प्रहार कर देगा? लेकिन मैं अपने आपमें ज्ञानरूप ही हूं। मैं अन्त: यदि ज्ञायकस्वरूप की दृष्टि बनाये रहूं, मैं ज्ञान को ज्ञान में लिए रहूं तो धन वैभव चाहे सारा हट जाय, उससे इस मेरे आत्मा का कोई बिगाड़ नहीं है। शरीर में रोग हो रहे हैं, रोग होने दो, यह शरीर तो किसी दिन जलाया भी जायेगा इसकी क्या शोभा निरखना, इसकी क्या प्रक्रिया करना, क्या श्रृंगार करना, क्या खैर मानना? निरोग रहकर भी क्या मौज मानना? रोग होता हो तो होने दो। रोग से मेरा कुछ भी बिगाड़ नहीं। मैं अपने आपमें अपने आपके स्वरूप की दृष्टि लिए हुए हूं तो मैं अपने में तो स्वस्थ हूं ना, मेरा तो सही स्वास्थ्य है। देह तो मैं हूं ही नहीं, यह तो गंदा है। यह तो पुद्गल है, इसमें क्या रखा? यदि मैं अपने स्वरूप की संभाल में रहूं तो मैं स्वस्थ हूं। पाप का उदय क्या करेगा? अधिक से अधिक यह करेगा कि मृत्यु हो जायेगी। होने दो मृत्यु, कहीं भी जाऊँगा, उसकी भी मैं कल्पना नहीं करना चाहता। मैं मैं हूं, मैं अपने स्वरूप को निरखे रहूं, बस फिर कुछ भी बातें, कोई भव मिले, कुछ भी स्थिति बने, मैं अपने आपमें समाया हुआ रहूं, फिर मेरा कोई कुछ बिगाड़ कर सकने वाला नहीं है। यदि पुण्य का उदय आया तो इसका भी क्या उठता? जैसे लोक व्यवहार में कहते हैं कि इसका मैं क्या करूँ? इसका तो कुछ भी नहीं उठता। इस लोक में हम आप सब जीव बिल्कुल अकेले ही अकेले हैं। इसका कोई दूसरा न कभी हो सका, न हो सकेगा। इन अनन्त जीवों में से दो चार जीव यदि घर में उत्पन्न हो गए और वे बड़े रूपवान, वे हुए बड़े कलावान, वे हुए बड़े आज्ञाकारी, यह तो पुण्य के उदय में मिला, लेकिन ये सब हमारी बरबादी के तेजी से कारण बन रहे हैं। उनमें हम मोहित होते हैं, राग बढ़ाते हैं, अपने आपको भूलते हैं और उस बीच अनेक बार दु:ख भी सहते रहते हैं, अनेक दु:ख सहते हैं, इस पुण्य के उदय का क्या उठ गया मेरे लिए? ये सब पूर्णतया बेकार हैं। अपने आपके स्वरूप की संभाल में दृष्टि देकर इन सब बातों पर विचार करिये- जहाँ स्वरूप दृष्टि से हटे और आँखें खोल कर इन मोही, अपवित्र, कर्मप्रेरित अज्ञान भरे लोगों के बीच में आये, इन लोगों में अपना बर्ताव बढ़ाया, व्यवहार बढ़ाया तो अब अनर्थ बढ़ने लगे। अब लौकिक प्रतिष्ठा की भी पड़ गई। अब राग द्वेष मोह भी बढ़ने लगे। अब बाहरी विभूति के बढ़ाने में ही अपना बड़प्पन माना जाने लगा। सारे अनर्थ बढ़ने लगे और इनमें आकुल व्याकुल होने लगे।

विपरीत में लगाव न रखकर अनुरूप में लगाव का कर्तव्य- देखो भैया बाह्य में ये सब जितने बढ़ गए हैं ना, वे सब उल्टे रास्ते में बढ़े हैं और जितना पढ़ गए हैं ना वे सब उलटी पाटी पढ़े हैं। उन सबको भूल जाइये और फिर अपने आपकी पाटी पढ़िये, अपनी दृष्टि करिये, उन सबको हम व्यर्थ ही जड़ समझते हैं। तो अपने आपको जो ऐसा अनुभव करे कि मैं इस लोक में अकेला ही हूं और जो कुछ बीतेगी मुझ अकेले पर ही तो बीतेगी। और जो कुछ मुझे करना है वह अकेले ही तो करना है। मेरा और साथी नहीं, कोई शरण नहीं, कोई मददगार नहीं, मेरे परिणामों में जब आकुलता होती है, अज्ञान जगता

है, मोह उठ रहा है, उससे दु:ख हो रहा है उसको मिटाने के लिए स्त्री पुत्रादिक समर्थ नहीं हैं। इसकी चेष्टा तो उस मोह के दु:ख को बढ़ाने का कारण बनेगी। कितना अपने आपको अपने में नियंत्रित करना है, कैसे करना है, कैसा अपने आपमें अपने को समा देना है, यह बात सीखने से मिलती है, वीतराग सर्वज्ञदेव के स्वरूप से उनकी भक्ति से। इस कारण लोक में मुझे यदि कोई शरण है तो निष्काम निर्विकार पूर्ण पवित्र ज्ञानपुन्ज परमात्म का स्मरण ही शरण है।

प्रभु से शरण्यता का नाता- प्रभु से मेरा शरण पाने का नाता बहुत जल्दी बन जायगा। जैसे यहाँ कहते ना कि इसका और इसका नाता बहुत जल्दी हो जायगा क्योंकि यह भी समझदार धनी और समझदार धनी। अरे यहां के रिश्ते पक्के कच्चे हों न हों, पर मेरा और प्रभु का रिश्ता अवश्य ही जल्दी पक्का हो जायगा, कारण यह है कि मेल खा गया है। मुझमें मेरा स्वरूप भी परमात्मा सदृश दिखा है और परमात्मा का जो विकास है वह जिस कारण परमात्मतत्त्व का आलम्बन लेकर हुआ है वह मेरे ही समान है, और जब मेरी सदृशता है तो मेरा और भगवान का जो रिश्ता है यही सही और पक्का बनेगा, दूसरे के साथ हमारा पक्का रिश्ता हो ही नहीं सकता। तो इतना सुगम इतना निकट इतना स्वाधीन यह परमात्मा का मेरा सम्बंध, यही मेरे लिए शरण बनेगा, दूसरा और कोई मेरे लिए शरण न होगा, तो जो समाधि भाव को इष्ट मान रहा है समाधिभक्त संत समाधि की साक्षात् मूर्ति जिनेन्द्र भक्ति के स्तवन को शरण मानकर बस यहाँ ही तृप्त होता है।

श्लोक 15

अन्यथा शरणं नास्ति त्वमेव शरण मम।

तस्मात्कारूण्य भावेन रक्ष-रक्ष जिनेश्वर:।।15।।

अविकारता के अतिरिक्त अन्य भाव में शरण्यता का प्रभाव- इस जीव का रक्षक यही है कि यह शान्ति में रहे। जब तक शान्ति में नहीं रहता तो इसकी अरक्षा है। अब परख कर लो कि हम शान्त रह सकें इसका कौनसा उपाय है? सब जगह यह जीव भाव-भाव के सिवाय और कुछ तो करता नहीं, और मैं करता हूं ऐसा, यदि यह प्रतीति है तो वह पूरा भ्रम है। जब मैं भावों के सिवाय अन्य कुछ कर नहीं सकता तो यहां यह परख करनी चाहिए कि मैं कैसा भाव बनाऊँ तो मुझे शान्ति मिले। जब रागद्वेष का भाव बनता है तब यह जीव अशान्त रहता है, किसी दूसरे चेतन अथवा अचेतन के प्रति यदि यह भाव रहता है कि ये मेरे हैं, मैं इनका हूं, इनसे मुझे सुख मिलता है आदि, तो फिर उसे चैन नहीं पड़ सकती, क्योंकि बाह्य में दृष्टि लगाये हुए है। बाह्य की ओर दृष्टि करे ऐसे परिणाम में शान्ति कहां से प्राप्त हो सकती है? यह बात रागद्वेष के परिणाम में भी है। मोह रागद्वेष से रहित निराला केवल ज्ञाता दृष्टा रहे, ऐसी स्थिति बने तो शान्ति मिल सकती है। ऐसा भाव बनाने के लिए यदि हमारा कुछ आलम्बन हो सकता है तो वह है

प्रभुभक्ति। प्रभु की शरण गहना, शरण उसे कहते हैं कि अब अपना सब कुछ समर्पण कर दे। अपने में कोई अभिमान न रहे। तो प्रभु अर्थात् जो रागद्वेष रहित, मोह रहित शुद्ध ज्ञान पिण्ड को यदि अपना समर्पण कर दे उनकी शरण गहें तो इस जीव को शान्ति मिलती है और निश्चयत: ऐसा ही जो अपना स्वरूप है, उस ही को शरण गहें तो शान्ति मिलती है।

निज भाव के सिवाय अन्य की क्रियमाणता का अभाव- इस प्रसंग में इतना तो निर्णय कर ही लेना चाहिए कि मैं भावों के सिवाय कुछ नहीं करता, शुभ भाव करता हूं और पुण्य बांधे लेता हूं, भाव करता हूं और पाप बाँध लेता हूं। यदि शुभ अशुभ भावों से रहित केवल शुद्ध भाव करूँ तो वहाँ कर्म कट जाते हैं। भावों के सिवाय मैं अन्य अन्य कुछ कर ही नहीं सकता। दो भाई थे देहात के। गरीब परिस्थिति थी। एक दिन रसोई घर के लिए लकडियां भी जंगल से लानी थी और उसी दिन उनकी पूजा करने की भी बारी थी। तो मानो बड़े भाई ने कहा कि तुम आज पूजा करने चले जावो और हम जंगल से लकडियां लेने चले जावें। सो बड़ा भाई तो जंगल चला गया और छोटा भाई पूजा करने मंदिर चला गया। उधर बड़ा भाई सोचता है कि मैं कहां आफत में पड़ गया? छोटा भाई तो प्रभु के गुण गाकर प्रसन्न हो रहा होगा। और मंदिर में पूजन करने वाला भाई सोचता है कि मेरा बड़ा भाई जंगल में वृक्ष पर चढ़ रहा होगा, लकडियां तोड़ रहा होगा, आम, जामुन आदिक के फल तोड़ तोड़ कर खा रहा होगा, बड़ा खुश हो रहा होगा। अब आप यह बताओ कि पुण्यबंध किसने किया? पुण्य बंध किया बड़े भाई ने जो जंगल में लकडियां जोड़ने गया था और मंदिर में पूजन करने वाले ने पापबंध किया। तो भाई, भावों का ही फल है। भावों के सिवाय हम आप करते ही क्या हैं। जैसा भाव बनाते हैं वैसा ही फल पाते हैं। इस कारण हम आपको अपने भावों की बड़ी संभाल करनी चाहिए। आपने छोटे-छोटे बच्चों को पंगत का खेल खेलते हुए देखा होगा। कुछ पत्तियाँ परोस दी और कह दिया ये हैं रोटियाँ, कुछ कंकड़ परोस दिये और कह दिया यह है गुड। अरे वहाँ कहां गुड है? कहां रोटियां धरी हैं? जब भाव सी बना रहे हैं तो अच्छे भाव क्यों न बनायें? पत्तों को परोस कर कहें ये पूडी कचौडियां हैं, कंकड़ों को परोस कर कहें ये बूँदी के लड्डू हैं। जब भाव ही बनाना है तो अच्छे भाव क्यों न बनाये जायें। ऐसे ही मंदिर में, प्रभुभक्ति करते समय हम आप अच्छे भाव क्यों न बनायें? हे प्रभो ! मैं यही भावना करता हूं कि मेरी बुद्धि स्पष्ट रहे और आपकी ओर लगी रहे।

विराग प्रभु की शरण्यता का विवेचन- हे प्रभो ! आपको छोड़कर अन्य किसी की शरण में जाऊँ? कौन मेरा राखनहार है? कौन मेरी रक्षा कर सकेगा? आपके सिवाय जब अन्य पर दृष्टि जाती है तो वे सब दु:खी नजर आते हैं। जो स्वयं दु:खी है उसकी शरण लेने से क्या दु:ख मिट सकेंगे? जो स्वयं शान्त हैं, सुखी हैं, आनन्दमय हैं, उसकी ही शरण लेने से शान्ति प्राप्त होगी। हे नाथ ! अन्य प्रकार मेरा और कुछ कहीं शरण नहीं है। अपने जीवन में प्रभुभक्ति का आनन्द लूट लो। कुटुम्ब भक्ति तो बहुत की। जो चित्त में बसा रहे भक्ति तो उसी की कहलाती है। कुटुम्ब को चित्त में बहुत बसाया तो उस भक्ति से लाभ कुछ न

मिला। अब प्रभु को अपने चित्त में बसाना चाहिए। अपना यह निर्णय रखिये कि समस्त बाह्य पदार्थ ये मेरे लिए शरणभूत नहीं हैं। मेरे लिए शरण तो केवल एक प्रभु की उपासना और अपने आपके सहज ज्ञानस्वरूप की उपासना है। अपना स्वरूप भी प्रभु है और जो स्पष्ट वीतराग हो गए वे तो प्रभु हैं ही। तो प्रभुता की उपासना करने से शान्ति मिलेगी, पन्चेन्द्रिय के विषयों की उपासना से शान्ति नहीं मिल सकती है। तो हे प्रभो ! हे वीतराग सर्वज्ञ पावन परमात्मन् ! आपको छोड़कर अन्य प्रकार से मेरे लिए शरण नहीं है। तुम ही मात्र एक शरण हो। इस कारण हे प्रभु जिनेश्वरदेव ! अब कारूण्यभाव से मेरी रक्षा करो, मेरी रक्षा करो।

निर्मोह होकर ज्ञानरूप की उपासना में ही धर्मलाभ- भाई दो ही तो काम करने हैं- एक तो प्रभुभक्ति और दूसरा- अपने ज्ञानस्वरूप की उपासना। इन दो कार्यों को छोड़कर बाकी जितने भी प्रयास हैं वे सब मोह के, मूढ़ता के प्रयास हैं। मंदिर में प्रभुदर्शन करने जाते हैं तो उसका प्रयोजन यही है कि प्रभुस्वरूप को देखें और अपने आपके सही स्वरूप की पहिचान करें, जिससे मोह छूटे। मोह छूटे यही धर्मपालन है। मोह रहे यही अधर्म करना है। ऐसा हो सकता है कि मोह न रहे पर कुछ काल तक कारणवश राग करना पड़े। राग होने पर भी मोह न रहे तो वह राग टिक न सकेगा। मोह होने से अनन्त संसार का भ्रमण होगा। मोह मिट जाने पर यह राग स्वयं ही छूट जायगा। इस जीव को क्लेश का कारण है मोहभाव का करना। जैसे कोई रईस को रोग हो जाय तो उसके लिए कितने अच्छे साधन बनाये जाते हैं। अच्छा पलंग, अच्छा बिस्तर, कई नौकर चाकर, खूब साफ स्वच्छ वस्त्र, डाक्टर भी बार-बार आकर खबर लेता, खूब मित्रजन भी उसके पास मिलने जुलने आते रहते हैं। सभी लोग उसकी दवा का व हर प्रकार का बड़ा ख्याल रखते हैं, इतना सब होते हुए भी क्या वह यह चाहता है कि मुझे इस तरह का आराम जीवन भर मिलता रहे? अरे वह तो चाहता है कि मुझे कब इस बीमारी की झँझट से फुरसत मिले और मैं प्रतिदिन मील दो मील चलूँ फिरूँ? यदि उस रईस को समय पर दवा नहीं मिलती है अथवा सब प्रकार के अच्छे साधन नहीं मिलते हैं तो वह बहुत झुँझलाता है, फिर भी उसका उन सबमें मोह नहीं है? यह दवा न पीनी पड़े इसके लिए दवा पी रहा है। तो मोह न रहने से राग में कुछ बल नहीं रहता। वस्तु का यथार्थ ज्ञान हो तो वहाँ मोह नहीं रह सकता। प्रत्येक पदार्थ का अपना-अपना जुदा-जुदा परिणमन है। यह बात जैनशासन ने घोषणा के साथ कही है। उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत। प्रत्येक पदार्थ बनता है, बिगड़ता है और बना रहता है। अपने में ही बनता है, अपने में ही बिगड़ता है और अपने में ही बना रहता है। सब पदार्थों का यही स्वरूप है। फिर किसका कौन क्या कर लेगा? किसी का कोई कुछ नहीं है। वस्तु स्वातंत्र्य की परख करके निर्मोहता का भाव अवश्यमेव जगता है।

भ्रम के हटने के साथ ही संकटों का हटना- भैया ! निर्मोह हुए कि समझ लीजिए संकट टले। भ्रम मिटा कि संकट दूर हुए। दीवाली के दिनों में किसी सेठ के घर गेरू के रंग से कुछ पुताई हो रही थी तो

सेठ की लड़की ने जब शाम हो गयी तो गेरू के रंग से भरा लोटा सेठ की खाट के नीचे रख दिया। सेठ की आदत थी अंधेरे में प्रतिदिन कुछ शौच जाने की। सो सेठ जब प्रात:काल उठा तो वही गेरू के रंग से भरा लोटा लेकर शौच गया। जब शौच से निपट चुका और कुछ प्रकाश होने से कपड़ों में लाल लाल खून जैसा लगा हुआ देखा तो सोचने लगा- ओह ! आज तो मेरे शरीर से न जाने कितना खून निकल गया। उसे खून का भ्रम हो जाने से बड़े जोर का शिर दर्द हुआ और घर आते ही आते उसके बुखार भी चढ़ गया, खाट पर लेट गया। कुछ देर बाद में जब दिन काफी चढ़ आया, फिर उस सेठ की लड़की को घर पोतने का काम करना था, तो आकर उस सेठ से वह लड़की कहती है पिताजी, हमने जो गेरू के रंग से भरा हुआ लोटा आपकी खाट के नीचे शाम को रख दिया था वह कहाँ गया? तो सेठ ने इतनी बात सुनते ही सच्ची बात समझ ली, लो उसका भ्रम मिट जाने से वह उसी समय चंगा हो गया। तो भाई परवस्तुवों के प्रति भ्रम होने के कारण इस जीव पर ये दु:ख लदे हुए हैं। अगर यह भ्रम मिट जाये तो फिर ये दु:ख कहाँ ठहर सकते हैं? अरे मेरा तो मात्र मेरा ही ज्ञान, मेरा ही दर्शन, मेरी ही शक्ति, मेरा आनन्द, ये सब गुण यही मात्र मेरे है, ऐसा एकत्व का निर्णय तो हो फिर वह दु:ख का नाम न रहेगा। बात एक ही है जीवन भर करने की। यही एक मात्र याद रख लीजिए, जीवन सफल हो जायगा। मेरा मात्र मैं ही हूं, और यह मैं भावों के सिवाय और कुछ करता नहीं, जैसे भाव मैं बनाता हूं उसी के अनुसार मेरी सृष्टि बनती है। सिवाय भाव बनाने के अन्य कुछ काम मैं नहीं करता, इतनी दृष्टि यदि रहेगी, ऐसा विश्वास यदि रहेगा तो अवश्य ही हम संसार संकटों से मुक्ति पा लेंगे, जन्म मरण के दु:ख दूर कर लेंगे। हे प्रभो ! यह सामर्थ्य, यह बल आपकी भक्ति से प्राप्त होता है, इसलिए आप ही मेरे को शरण हैं, इस कारण हे प्रभो ! आप मेरी रक्षा करें। तो आपके गुणस्मरण में मेरा उपयोग बना रहे, समाधिभक्त ज्ञानी संत केवल यह अभ्यर्थना प्रभु से करता है।

श्लोक 16

नहि त्राता नहि त्राता नहि जगत्त्रये।

वीतरागात् परो देवो न भूतो न भविष्यति।।16।।

आत्मशरण- हमारी रक्षा इसी बात में है कि हममें रागद्वेष मोह की तरंग न उठे और हम एक जाननहार रहें। जिसको भी अपने आप पर दया आती हो कि मुझे संसार में अब नहीं रूकना है। जन्म मरण के दु:खों को मैं अब नहीं चाहता तो मेरा यह कर्तव्य होता है कि ऐसा ज्ञान बनायें, ऐसा उपयोग बनायें कि रागद्वेष मोह रूप न बर्ते और इस बात के लिए बाहर में किसकी शरण लें? तो मेरा शरण बाहर में वही आत्मा हो सकता है जो रागद्वेष मोह से बिल्कुल दूर हो। उसी को कहते हैं वीतराग सर्वज्ञ

परमात्मा, भगवान। उस वीतराग देव से ऐसे अन्य कोई देव न मेरा कभी रक्षक हुआ है और न हो सकेगा। हम जब दूसरे का सहारा तकें कि जिससे उत्कृष्ट कोई दूसरा न हो।

अपने ज्ञान पर अपने वेदन की निर्भता- भैया ! सही बात तो यह है कि हम पर जो कुछ बीतता है वह हमारे उपयोग से ही बीतता है। बाहर कोई कहीं बड़ा रोजगार चल रहा हो और वहां किसी का लाख दो लाख का नुकसान हो गया और खबर उल्टी मिली तो हुआ तो वहां नुकसान पर यहां वह सेठ खुश हो रहा है अथवा हुआ हो वहां फायदा और खबर आ जाय कि नुकसान हो गया तो यहां वह सेठ दु:खी हो रहा है। तो यहां तो ये सुख दु:ख बाहरी चीजों पर निर्भर नहीं हैं। उन बाहरी चीजों के प्रति जो विचार बनाये जाते हैं उन विचारों पर ये सुख दु:ख निर्भर हैं। एक बात और विचारिये कि उसे जो फायदे की बात सुनकर खुशी हुई अथवा नुकसान की बात सुनकर दु:ख हुआ था वह भी उस बात से सुख अथवा दु:ख नहीं हुआ, किन्तु उस बात को सुनकर जो गहरे रूप से विचार उससे उसे सुख अथवा दु:ख हुआ। अगर उस नुकसान की बात सुनकर भी यदि वह सेठ विवेक से काम लेता कि अरे उस नुकसान से मेरा क्या बिगाड़ हो गया, वे तो परपदार्थ हैं, मेरे से अत्यन्त भिन्न हैं, मैं आत्मा तो इस देह से भी निराला ज्ञानमात्र हूं, लो इस प्रकार के विचार यदि वह सेठ बना लेता तो कहां उसे दु:खी होना पड़ता? तो जब ये सुख दु:ख अपने उपयोग पर ही निर्भर हैं तो अपना ऐसा उपयोग बनायें कि जिससे शान्ति मिले। और जो शान्त पुरूष हों उन पर ही हमारी दृष्टि रहे। ये जगत के बीच के झगड़े हैं। रागद्वेष मोह आदिक के ये सब झगड़े हमारी कुबुद्धि के कारण बन रहे हैं। हम आश्रय तकें, देव मानें, भगवान मानें तो उसको मानें। उसका आलम्बन, उसका स्मरण ही मेरे लिए शरण है। वीतराग उत्कृष्ट स्वरूपदेव के सिवाय अन्य कोई देव इस लोक में मेरा रक्षक नहीं है, इस प्रकार का दृढ़ निर्णय है समाधिभक्त ज्ञानी संत का।

समाधिभक्त संत का लक्ष्य- जिसने यह निर्णय कर लिया है कि समता परिणाम ही मेरे लिए शरण हैं, रागद्वेष मोहादिक की बातें मेरे लिए शरण नहीं है वह समझो समाधिभक्त बन गया। समाधिभक्त पुरूष समाधिमूर्ति ज्ञानपुन्ज वीतराग अविकार निर्दोष परमात्मातत्त्व को अपना शरण समझता है। जैन शासन पाने की सबसे बड़ी देन यही है कि वस्तुस्वरूप की यथार्थ समझते रहें। वस्तु के यथार्थ स्वरूप के जानने से ही मोह मिट रहा है। मोह न रहे, इससे बढ़कर कोई वैभव नहीं है। यदि इस मोह को हटाने का व अपने को केवल ज्ञानमात्र अनुभव करने का हम जरा भी विचार नहीं करते तो हमारा यह जीवन बेकार है। भले ही अच्छे पुत्र हैं, अच्छी स्त्री है, अच्छा घर है, सभी का अच्छा बर्ताव है, बड़ी मौज है, बड़े सुख से रहते हैं, लेकिन इस सुख का क्या उठेगा? मृत्यु तो निकट आ रही है। यह भव छोड़कर कहां जाना पड़ेगा, यहाँ के प्राप्त समागम कुछ भी तो साथ न जायेंगे। यह मोह तो इस जीव पर सबसे बड़ी विपत्ति है। तो हमें इस मोह को दूर करने के प्रयत्न में रहना चाहिए। गुरूवों से मिलें तो, तीर्थ यात्रायें करें तो, दर्शन, पूजन, वंदन आदि करें तो, सभी प्रसंगों में उद्देश्य यही रहना चाहिए कि किसी प्रकार मेरा मोह तो हटे कि वास्तव में

मेरा कोई कुछ है नहीं, कोई कुछ रहेगा नहीं, कोई कुछ मेरा था नहीं। अत्यन्त भिन्न पदार्थ हैं ये सब जीव। ये जड़ वैभव न मेरे कुछ हैं, न कभी न हुए, न कभी हो सकेंगे। उन्हें मैं अपना मानूँ तो ये मिथ्या कल्पनायें हैं, मिथ्याभाव हैं, और मिथ्याभाव की कभी विजय नहीं हो सकती। भैया ! ये पदार्थ बिखरेंगे, नष्ट होंगे और इनके स्नेह के कारण जो पापकर्म बँधे उनका फल मिलेगा। जिन चीजों में हम आप इतना मोह कर रहे हैं और पापकर्म बँध रहे हैं वे चीजें तो मिलेंगी नहीं, लेकिन जो पाप बाँधा है वे पापकर्म फल दिए बिना खिरेंगे नहीं। इस कारण मोह करना मेरी बरबादी का ही कारण है। यह मोह दूर हो, इतनी बात हमारे चित्त में अवश्य आनी चाहिए।

अमीरी और गरीबी- भैया ! हम आपके पास कुछ वैभव ही क्या है, बड़े-बड़े तीर्थंकर, चक्रवर्ती, इन्द्र आदि अटूट वैभव के स्वामी होते हैं। लेकिन इतने बड़े वैभव को प्राप्त करके भी सम्यग्दृष्टि पुरूष उन समस्त वैभवों से निराले रहते हैं। उनके चित्त में यह बात रहती है कि सारा वैभव मेरा कुछ नहीं है। लेकिन इन मोही जीवों की यह दशा है कि थोड़ा सा भी धन मिल जाता है तो उसे वे अपना सर्वस्व समझ लेते हैं, उसे छोड़ना नहीं चाहते, उसको ठीक-ठीक समझना भी नहीं चाहते। तो मोह के त्यागे बिना शान्ति पा लें यह बात हो नहीं सकती। बात तो जो सही है वह चित्त में समा जानी चाहिए। परपदार्थों का सम्बंध, परपदार्थों का राग जब तक नहीं छूट रहा, न सही, पर सही बात जान लेने में तो कुछ आपत्ति नहीं है। शान्ति मिलेगी, इसलिए यह यथार्थ निर्णय रखें कि जब यह देह तक मेरा नहीं है तो फिर ये जो प्रकट भिन्न परपदार्थ हैं, ये मेरे होंगे ही क्या? जब कर्म विपाकवश उत्पन्न हुए ये रागादिक भाव ही मेरे नहीं हैं तो अन्य पदार्थ मेरे क्या हो सकेंगे? इस प्रकार का ठीक निर्णय रखें और अमीर बनें। यदि सच्चा ज्ञान नहीं है तो समझिये कि हम पर बड़ी गरीबी छाई है। गरीबी किसे कहते हैं? उस स्थिति को जिसमें पर की आशा लगायी जा रही है। यदि सत्य ज्ञान नहीं है तो आशा तो न मिटेगी। पर की आशा हम रखें और ऐसी श्रद्धापूर्वक रखें कि पर से ही हमें सुख मिलेगा, इससे ही मेरा बड़प्पन है तो ऐसा जो परिणाम है, अज्ञान का जो भाव है यह गरीबी है। यह जड़ वैभव अधिक हो गया तो उससे गरीबी न मिटेगी। अथवा जड़ वैभव न रहे तो जो ज्ञानी है उसके गरीबी न आयगी। भाव की गरीबी है, भाव की अमीरी है, भावों में ही सुख है, भाव में ही दु:ख है। हम और लोगों में जो बहुत समय रहा करते हैं, दुकान के कारण, व्यापार के कारण, व्यवहार के कारण, उनमें रहकर बुद्धि और फिर जाती है और चित्त चाहता है इज्जत हो मेरा बड़प्पन रहे, ये लोग मुझे कुछ समझें। इस प्रकार के जो भाव हैं वे बड़ी गरीबी के भाव हैं। उनसे क्या आशा रखें? आश्रय तकें तो वीतराग सर्वज्ञ प्रभु का। मोही, मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी, कर्म प्रेरित, दु:खी, प्राणियों की हम क्या आशा तकें कि ये लोग मुझे कुछ समझें? अरे प्रभु के ज्ञान में हम अच्छे रहें, इस तरह की आशा रखनी चाहिए। तो वीतराग से उत्कृष्ट देव न कोई हुआ, न होगा और न कोई मेरा रक्षक है, न होगा। वीतराग देव का स्मरण ही मेरा रक्षक है।

श्लोक 17

जिनेभक्तिर्जिने भक्तिर्जिने भक्तिर्दिने दिने।

सदा मेऽस्तु सदा मेऽस्तु सदा मेऽस्तु भवे भवे।।17।।

समाधिभक्ति की समाधिमूर्तिभक्ति- जिन्होंने रागद्वेष मोह को नष्ट कर दिया है ऐसे वीतराग जिनेन्द्र में, ऐसे जिनेन्द्र प्रभु में, ऐसे ज्ञानपिण्ड में मेरी भक्ति दिन-दिन रहे। समाधिभक्ति पुरूष अपने आपको प्रभु में समर्पण कर दे। मेरा शरण केवल वह ज्ञानज्योति ही है, मेरे हाथ पैर हैं। जो मैं हाथ पैर से प्रभु के पास जाऊँ। प्रभु भी ऐसा कोई शरीरधारी नहीं है कि जहाँ वे विराजे हों वहाँ मैं पहुंचूँ। प्रभु भी ज्ञानपिण्ड हैं और मेरे भी हाथ, पैर, अंग अवयव आदिक शरीर बिना ज्ञान हैं। ज्ञान के द्वारा मैं उस ज्ञान पिण्ड को अपने ज्ञान में बसा लूँ, बस यही प्रभु का मिलन है। प्रभु का दर्शन अन्य भाँति से नहीं हो सकता। समस्त परपदार्थों का विकल्प तोड़कर अपने ज्ञान द्वारा अपने ज्ञान में ज्ञानस्वरूप को बसा लें तो एक अलौकिक आनन्द का अनुभव होगा। उस अनुभूति में प्रभु का साक्षात् मिलन हो रहा है। वीतराग ज्ञानपुन्ज प्रभु में मेरी भक्ति सदा रहो, भव-भव में रहो, जब तक मुझे इस संसार में रहना पड़ रहा हो तब तक प्रत्येक भव में यह प्रभुभक्ति मेरे चित्त में रहे। जो पुरूष जिसके स्वाद का आनन्द ले लेता है और हो वह आनन्द बहुत उत्कृष्ट तो उसकी याद रहती है, विस्मृति नहीं होती है और उत्सुक बराबर उसी के लिए रहता है। जिस ज्ञानी पुरूष ने चेतन अचेतन समस्त परिग्रहों को भिन्न जानकर अपने आपमें बड़े आराम से रहकर एक सहज स्थिति का अनुभव कर लिया है और उसमें अनन्त आनन्द का अनुभव कर लिया है उस पुरूष को जगत की कोई बाहरी बातें कैसे सुहा सकती हैं? परपदार्थों में सार है, उनसे मेरा उद्धार है इस प्रकार का भ्रम वे कभी नहीं कर सकते। जैसे रस्सी को साँप समझने वाला पुरूष घबड़ाता है, दु:खी होता है, कभी हिम्मत बनाकर थोड़ा निकट जाकर परख करे तो उसे और हिम्मत बढ़ती है कि यह तो साँप सा नहीं मालूम होता, और निकट गया, बिल्कुल पास में गया तो उठाकर देख लिया कि यह तो कोरी रस्सी है। अब उसे कोई कितना ही बहकाये कि यह तो साँप है तो वह कैसे मान लेगा? जब स्पष्ट अनुभव में आ गया कि यह रस्सी ही है तो अब उसे भ्रम नहीं हो सकता। पहिले भ्रम था, इसी प्रकार यह जीव अनादि काल से भ्रम ही भ्रम करता चला आया और उस भ्रम के फल में अनन्त दु:ख भोगे, लेकिन इस जिनवाणी माता की कृपा से आज भ्रम दूर हुआ है, सत्य समझा है कि जगत के प्रत्येक जीव सब प्रकार से एक दूसरे से भिन्न हैं, अब इसे कोई कितना ही प्रलोभन देकर भ्रम में डालना चाहे तो यह भ्रम में नहीं पड़ सकता। अपने आपका अनुभव इतनी बड़ी महिमा रखता है। तो ऐसे ही जो भगवान हुए हैं, ज्ञानमूर्ति उनकी ही भक्ति मेरे चित्त में रहो।

कल्याण लाभ का धाम- यद्यपि दुनियावी लोगों की नजर में ऐसा दिखेगा कि भगवान से हम क्या चाहें? उनके पास तो कुछ भी नहीं है, वे तो केवल ज्ञानमात्र हैं, ज्ञानज्योतिस्वरूप हैं, उनको छोड़कर किसी धनिक की सेवा करें तो उससे कुछ धन भी मिल जायगा, प्रभु से क्या मिलता है? लेकिन आपने कभी यह सोचा भी होगा जिस समुद्र में अथाह जल है उस समुद्र से क्या कभी कोई नदी भी निकली है? जिस पहाड़ पर एक बूँद भी नजर नहीं आती उस पहाड़ से बड़ी-बड़ी नदियां और बड़े-बड़े स्रोत नाले निकल आते हैं। तो इसी तरह जानो कि जिसके पास कुछ भी धन वैभव नहीं है, स्त्री पुत्रादिक नहीं हैं, केवल ज्ञानपुन्ज है उस ज्ञानपुन्ज के स्वरूप के अन्दर तो देखिये, उसके लगाव से आपको वह वैभव प्राप्त हो सकता है जो शाश्वत है, जो सदा संकट से बचा देगा और साथ ही जब तक संसार में रहना है तब तक भी उस ज्ञानमूर्ति भगवान की उपासना से वे वैभव मिलेंगे जो वैभव अज्ञानी मिथ्यादृष्टियों को नहीं मिल सकते। तीर्थंकर, चक्रवर्ती बड़े इन्द्रादिक होना ये सब पद इस ज्ञान के प्रताप से ही मिल सकते हैं, अज्ञान से नहीं मिल सकते। यहां की तो ऐसी बात है कि पुण्य का उदय तो था ज्यादाह और यहां मांग बैठे थोड़ा तो उसे थोड़ा मिल जाना आसान सा हो जाता है। और लोग यह समझ लेते हैं कि इन मोहियों की सेवा करने से मुझे इतनी श्री का लाभ हुआ है, ये सब पुण्यपाप के ठाठ हैं। अपने आपको अपने आपमें निरखिये कि मैं अकेला हूं, मेरा कोई दूसरा साथी नहीं है। हम अपना भला चाहते हैं तो हमें अपने को अकेले में ही कुछ करना पड़ेगा। मेरा कोई दूसरा मददगार नहीं है, चाहे कोई कितना ही प्रेमी हो। मेरे असली काम के लिए सदा के लिए समस्त संकटों से छूट जाने के लिए मेरा मैं ही काम आ सकता हूं। मेरे काम कोई दूसरा नहीं आ सकता। हां इस कार्य के लिए एक स्मरण के विषय के रूप में वीतराग सर्वज्ञदेव मेरे काम आयेंगे। पंच परम गुरु अरहंत, सिद्ध आचार्य, उपाध्याय और साधु, इनकी सेवा एक निर्मोह होने की दृष्टि से कोई करता है तो वह सेवा तो शरणभूत है, बाकी अन्य जीवों की सेवा, अन्य जीवों का सम्पर्क, उनमें घुलमिलकर रहना, मौज मानना, यह लाभदायक बात नहीं है। हालांकि जीवन में थोड़ा यह भी हो जाता है, हो, किन्तु अपने उद्देश्य से अगर भूल करके रहे तो समझो कि हम बड़े भारी संकट में हैं। तो अपने उद्देश्य को न भूलें, सच्ची अमीरी प्राप्त करना चाहिए। तो ऐसे जो

पूर्ण सच्चे अमीर हैं वीतराग निर्दोष निर्विकार, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति अनन्तआनन्द से सम्पन्न वीतराग जिनेन्द्रदेव में मेरी भक्ति दिन-दिन रहो, सदा रहो, भव-भव में रहो। यदि अपने पुरखों के विरूद्ध चले तो सपूत कहलाने के अधिकारी हम नहीं हैं। अपने पुरखा कौन हैं। अपने जो दादा, बाबा, परदादा आदि हुए उनकी बात हम नहीं कह रहे किन्तु पुराणपुरूष महापुरूष हो गए हैं उनकी बात हम कह रहे हैं। बड़े-बड़े तीर्थंकरों ने, बड़े-बड़े नारायण बलभद्र आदिक महापुरूषों ने क्या किया? वह यदि हम श्रद्धा में रख सके, कर सके तो हम आप इस चैतन्य कुल में सपूत कहलाने के अधिकारी हैं और रागद्वेष मोह में ही रहे तो हम उन पुरखों के सपूत कहलाने के अधिकारी नहीं हैं।

अपनी संभाल बिना विडम्बना- जरा इन पशुवों के क्लेश तो देखिये झोंटों को बाँध दिया धूप में, उसकी कुछ खबर ही न रहे तो बँधा ही रहे वह धूप में। कितना बलवान होता है झोंटा, फिर भी एक पतली रस्सी में बँधा हुआ वह दु:ख भोग रहा है। इस आत्मा पर कितना बड़ा अन्याय हो रहा है! सूकर, मुर्गा, मुर्गी, आदिक पशुवों की तो लोग कुछ कीमत ही नहीं आँकते। जब चाहे गर्दन पकड़कर मरोड़ देते हैं या छुरी से काट देते हैं। ये जीव हैं क्या? ये हम आपके ही समान तो हैं। हम आप भी कभी यही थे और अगर न संभले तो फिर ऐसा ही बनना पड़ेगा। आज जरा-जरा सी बात में हम दु:ख का अनुभव करते हैं और समस्या सामने ऐसी कष्ट की रख लेते हैं कि उसमें उल्झे रहते हैं और अपना हित नहीं कर पाते। मगर देखो तो सही ये दु:ख तो कुछ भी नहीं हैं जिनका हमने पहाड़ बना रखा है। इन पशु, पक्षी, कीड़ा मकौड़ों के दु:खों का तो जरा कुछ विचार कीजिए। जब हम आपको भी ऐसे दु:ख मिलेंगे तब क्या होगा तो इससे भला यह है कि इस जीवन में किसी भी स्थिति में दु:ख न मानें। कुछ भी हो रहा हो, दृष्टि दें कि ये परपदार्थ हैं, इनका ऐसा परिणमन हो रहा है, घर के आदमियों की परवरिश बहुत ऊँचे स्तर से नहीं हो पा रही है तो दु:ख मत मानो। ऐसा समझ लो कि इनका ऐसा ही उदय है, ऐसा ही इनका भाग्य है। ये अपने पुण्य के माफिक अपना व्यवहार चला रहे हैं, मैं इनका क्या करता हूं? मैं तो केवल भाव ही करने वाला हूं, अन्य कुछ नहीं करता हूं, घर में जो लोग रह रहे हैं उन पर उनके कर्मानुसार बीत रही है, उन पर मेरा कुछ अधिकार नहीं है, न उन पर मेरी कोई करतूत है। किसी भी बात में खेद खिन्न मत हो इस जीवन में। बड़ी दुर्लभता से यह नरभव प्राप्त किया है। इस नरभव में अपने सहज ज्ञान स्वरूप को देख देखकर खुश रहें, उसकी उपासना में ही रहें तो समझिये कि हमने कुछ पुरूषार्थ किया, अन्यथा यह लोक 343 घनराजू प्रमाण है, यहाँ के मरे न जाने कहाँ के कहाँ पैदा होंगे, न जाने क्या बीतेगी? आज तो कुछ हमारे हाथ में है, ऐसा लग रहा है, पर उन पशु पक्षी, कीड़ा मकोड़ा के भवों में पहुंचकर तो ऐसी स्थितियाँ बीतेंगी कि कुछ भी मेरे वश का न रहे। यहाँ श्रेष्ठ मन है, ज्ञान व विवेक है, सत्संग भी मिलता है, उपदेश भी मिल रहे हैं, ऋषि संतों की अपार करूणा भी मिल रही है, सब कुछ मेरे हाथ है। मैं ज्ञान को संभालूँ तो मैं अपना उद्धार कर लूँगा। यहाँ के मरे न जाने कहाँ के कहाँ पैदा होंगे, न जाने किस गति में जायेंगे, फिर क्या हाथ रहेगा? यहाँ ही यदि विवेक नहीं कर पा रहे हैं, अपने आपके उद्धार की बात नहीं कर सक रहे हैं तो यह बहुत बड़ी गलती कर रहे हैं। यहाँ की चिकनी चौपड़ी बातों में, इन बाहरी रूपों में, इन बाहरी स्नेहों में समय न गुजारें।

आत्मसंव्यवहार- घर में रहें गृहस्थजन तो इस तरह से रहें जैसे जल से भिन्न कमल है। सत्य बात समझते रहें। कमल जल में रहता है फिर भी जल से भिन्न है। जल से ही पैदा हुआ है, जल में ही पैदा हुआ है फिर भी जल से अलग है। बल्कि उस जल में यदि वह कमल स्पर्श कर जाय तो कमल सड़ जायगा, उसका विकास नहीं हो सकता। इसी तरह समझिये कि हम आप जिस घर में रह रहे हैं, फिर

भी यदि उस घर में अपना सम्पर्क बनाया, मोह बनाया तो फिर हम आप पनप नहीं सकते। जितना घर से विरक्त रहेंगे उतना ही हम अपना भला कर सकेंगे। एक ही निर्णय है। दूसरी बात प्रधान रूप से अपने चित्त में मत लाइये। मैं मैं हूं, अपने आपके स्वरूप से हूं, किसी पररूप नहीं हूं, मेरा अन्य कुछ नहीं है, किसी का मैं नहीं हूं, मैं अकेला ही अपने आपमें अपना काम किया करता हूं, मैं अकेला ही अपनी सारी सृष्टि किया करता हूं, सारी जिम्मेदारी मेरी भविष्य के लिए मेरे अपने आपके अकेले पर ही है, दूसरा कोई मेरे लिए रंच भर भी मददगार नहीं है। ऐसा अपना पक्का निर्णय करिये। मेरा मैं ही अपना सुधार अथवा अपना बिगाड़ कर सकता हूं, अन्य कोई नहीं कर सकता। इन विषय कषायों से प्रतीतिपूर्वक हटें, इनसे अपने को निराला रखें, और कुछ भी में दूसरों का बसायें, किसी का ध्यान न करें, अपने आपके ज्ञान को साफ रख लें, बस यही सच्चा धर्मपालन है। ध्यान में यही किया जाता है। बड़े-बड़े योगी पुरूष जंगल में रहकर यही किया करते हैं। यह बात गृहस्थी में अधिकतर नहीं होती इसलिए गृहस्थी को छोड़कर योग धारण करना पड़ता है। लेकिन योगी भी मनुष्य है, गृहस्थ भी मनुष्य है। योगी के भी ज्ञान है। जो बात योगी कर लेता है उस की झलक गृहस्थ भी कर सकता है। पर गृहस्थ थोड़ा कर पाता है क्योंकि उसमें अनेक विघ्न आ जाते हैं। इसी कारण गृहस्थ मार्ग से मुक्ति नहीं, योग मार्ग से ही मुक्ति प्राप्त होती है। किन्तु मुक्ति में जो आनन्द है, योगीजन जो आनन्द पाते हैं उसकी झलक उस गृहस्थ को भी मिल जाती है जो गृहस्थ अपना सच्चा विवेक बनाये। तो ऐसे ये प्रभु मेरे चित्त में सदा निवास करो।

श्लोक 18

याचेऽहं याचेऽहं जिन तव चरणारविन्दयोर्भक्तिम्।

याचेऽहं याचेऽहं पुनरपि तामेव तामेव।।18।।

जिन चरण भक्ति की अभ्यर्थना- हे जिनेन्द्र भगवन्त ! मैं तुम्हारे चरणकमलों की भक्ति को माँगता हूं, माँगता हूं। और फिर भी उस ही चरणारविन्द भक्ति को ही मैं माँगता हूं। समाधिभक्त संत समाधिभक्ति की सिद्धि के प्रयोजन में प्रभुगुण स्मरण कर रहा था। उस गुणस्मरण से जो इसे आनन्द आया, जो इसे सत्पथ का दर्शन हुआ उससे प्रसन्न होकर प्रभु से यही चाहता है, अन्य कुछ नहीं चाह रहा। साकार भगवान के चरण व्यवहार दृष्टि से बन्दे जा रहे हैं और भगवान के भगवत् स्वरूप को निरखकर, भगवान के चरण हैं ज्ञान और दर्शन। ज्ञानदर्शनस्वरूप यह आत्मतत्त्व है। जिसका ज्ञानदर्शन विशुद्ध प्रकट हुआ है वही भगवान है। उसकी भक्ति को यह समाधिभक्त चाह रहा है। हम आप सब चेतन हैं। चेतने का हम आपमें स्वभाव है। यहाँ चेतना सामान्यरूप से और विशेष रूप से होती है। पदार्थों की जो जानकारी है यह जानकारी विशेष चेतना कहलाती है। जब पदार्थों के इस विविध रूप का भान नहीं रहता और केवल एक सत्त्व का ही भान रहता है तो उसे कहते हैं सामान्य चेतना। हम आपका बस एक यही है मूल में वैभव। इसके अतिरिक्त जो

कुछ भी हम अपना बनाना चाहते हैं वह सब मोह का अँधेरा है। इस ज्ञानदर्शन स्वरूप पर दृष्टि जाय तो आत्मा को सच्चा प्रकाश मिला समझिये।

पदार्थ की एकत्वविभक्तता के ज्ञान से आत्मलाभ- कोई भी पदार्थ होता है तो उसका कुछ निजी स्वरूप होता है। ऊपरी बातें कितनी भी लगा दी जायें उन सब अन्य पदार्थों के सम्पर्क होने पर भी सबका निजी-निजी स्वरूप स्वयं में रहता है। जैसे पानी में तेल मिला दिया गया तो तेल का स्वरूप तेल में और पानी का स्वरूप पानी में पड़ा हुआ है। वे तेल और पानी तो खैर न्यारे-न्यारे जँच रहे हैं लेकिन दूध और पानी को मिला देने पर उन्हें तेल और पानी की भाँति अलग-अलग नहीं समझा जा सकता। दूध में पानी उस तरह तो नहीं तैर रहा जिस तरह से पानी में तेल। वे दूध और पानी बिल्कुल एकमेक हो जाते हैं, घुलमिल जाते हैं, इतने पर भी दूध के कण-कण का स्वरूप पानी में है। दूध पानी एक नहीं हो गए। ऐसे ही आप समझिये कि यहाँ कितने भी बाह्य पदार्थों का सम्बंध हो जाय, शरीर भी यहीं है तैजस शरीर भी यहीं है। कार्माण शरीर भी यहीं है, आत्मा भी यहीं है, सब कुछ एक जगह एक क्षेत्रावगाह होने पर भी सबका स्वरूप उनका न्यारा-न्यारा उन-उन ही में है। एकमेक नहीं हो जाते। ऐसी दृष्टि लगाकर जो सबसे निराला ज्ञानमात्र अपने को निरखता है बस वही संसार से पार होता है। सर्वसंकटों से छूटने के लिए एक मूल में यही उपाय है कि मैं अपने आप सहज जैसा हूं तैसा अपना अनुभव कर लूँ। इस सहज स्वतत्त्व के अनुभव लिए जाने पर फिर संसार की कोई भी वस्तु अपने को बहका नहीं सकती, मोहित नहीं कर सकती, अज्ञान में नहीं डाल सकती। आखिर वियोग तो होता ही है। जिनका समागम आज प्राप्त है उनका वियोग होगा। भव-भव में जन्म लेंगे, नये-नये संयोग मिलेंगे, उनका वियोग होगा और वियोग के समय यह जीव दु:खी होता है। भला यह तो सोचिये कि जिसका हमें संयोग मिलेगा उसका संयोग आज तो नहीं है और न उस चीज के संयोग के प्रति आज कुछ कल्पना भी है, न इच्छा भी स्पष्ट हो पाती है कि मुझे आगे ऐसे संयोग मिलें। फिर भी जिनके भविष्य के संयोग की भी वान्छा है वे तो तीव्र मिथ्यादृष्टि हैं। अक्सर आगामी भव के संयोग की कोई इच्छा नहीं करता, और इस भव का संयोग मिटेगा ही। यदि यह जीव इस जीव के संयोग से इस समय निराला रह जाय तो उसके भविष्य का सारा काम बन जाय। जैसे ठंड के दिनों में तालाब में नहाने के लिए 4-6 बालक उस घाट पर गए जिस घाट से कूदकर पानी में उतरा जाता है। तो घाट पर वे बालक बैठे हुए हैं। ठंड के मारे किसी की हिम्मत नहीं हो रही है कि पानी में कूद जाय। यदि कोई बालक दो चार सेकेण्ड को ही साहस बना ले कि मुझको तो इस पानी में कूदना है, पानी में कूदने के बाद उसे फिर ठंड की बाधा नहीं रहती। यह ठंड तब तक ही सता रही है जब तक कि उस पानी में प्रवेश नहीं है, ऐसे ही समझिये कि एक भव का समय यह कितना सा समय है इस अनन्त काल के सामने? इसका कोई अनुपात भी नहीं बैठता। न कुछ चीज की तरह है। यदि इस ही कुछ समय के लिए हम साहस बना लें, अपने चित्त में प्रबल धारणा बना लें कि सारे पदार्थ का संयोग असार

है, भिन्न है, अहित रूप है, उससे मेरा कोई सम्बंध नहीं है, भीतर में एक ऐसा ज्ञानप्रकाश आ जाय, फिर सदा के लिए संकट मिट जायेंगे। निर्मोह होने का उपाय बना लेना इस जीव की शान्ति के लिए एकमात्र सर्वोत्कृष्ट पुरूषार्थ है। कल्याण के लिए और करना ही क्या है? व्यर्थ का जो मोह लगा रखा है, जिसमें कुछ सच्चाई नहीं है उस कल्पित व्यर्थ के मोह को हटाना है। इतनी ही बात धर्मपालन के लिए की जानी है।

मोह की व्यर्थता- आप देख लीजिए कि व्यर्थ का मोह है कि नहीं। आज जिन परिजनों का सम्बंध है, स्त्री पुत्रादिक का सम्बंध है वे आज मोहवश आपको बड़े सुहावने और सच्चे लग रहे हैं, ये सब मेरे ही तो हैं, लेकिन यह तो बतलावो कि आपके यदि हैं तो आपके साथ पहिले भी थे क्या? आगे भी रह सकेंगे क्या? आज थोड़ा मोहभाव बनाया जा रहा है, लेकिन मरण के बाद, वियोग होने के बाद सबकी शकलें बदलेंगी, सबके भव बदलेंगे और ये ही जीव फिर दूसरे भव में आपके सामने आयेंगे। आपको उनमें मोह नहीं जग सकता। जैसे एक पौराणिक कथा है कि एक सेठ अपने चैत्यालय में बैठा हुआ जाप किया करता था। एक दिन उसके मन में ऐसा आया कि आज रात्रि में हम उतनी देर तक सामायिक करेंगे जितनी देर तक यह दीपक जलता रहेगा। उसे यह पता तो था ही कि इसमें इतना तेल है और करीब दो घंटे तक जलेगा। उसने इस बात को किसी से बताया भी न था जब वह सेठ ध्यान में बैठा हुआ था तो उसकी स्त्री आयी और देखा कि वह तो सामायिक में बैठे हैं और दिये का तेल खत्म हो गया है, दीया अब बुझने वाला है तो उस दीये में तेल डाल दिया, वह फिर पहिले की भाँति जलता रहा, फिर तिबारा आकर देखा कि दीये का तेल खत्म होने को है तो और भी तेल डाल दिया। यों वह दीपक सारी रात जलता रहा। और वह सेठ सारी रात सामायिक में बैठा रहा। कुछ विशेष परिश्रम होने से उसे बड़ी जोर की प्यास लगी, उस समय उसके बड़े संक्लेश परिणाम हुए और उसकी आयु भी उसी समय समाप्त होनी थी, सो वह उस संक्लेश परिणाम में मरकर मेंढक हुआ, और मेंढक भी अपने घर की बावड़ी में हुआ। अब सेठानी उस बावड़ी में पानी भरने जाये तो वह मेंढक उछल कूदकर सेठानी के अंगों पर आये। लेकिन अब मेंढक से कौन प्यार करे? जीव तो वही था जो सेठानी को मनुष्य के भव में अत्यन्त प्यारा था, लेकिन मेंढक के भव में आने पर उससे कौन प्यार करे? तो कुछ समय बाद उस सेठानी ने किसी मुनि से पूछा कि महाराज मेरी बावड़ी में एक मेंढक रहता है। जब मैं पानी भरने जाती हूं तो वह उछल कूदकर मेरे अंगों में चिपटता है, यह क्या बात है? तो वह मुनि अवधिज्ञानी था। उसने अवधिज्ञान से विचार कर बताया कि वह मेंढक पूर्व भव में तेरा पति था, लेकिन इस तरह से संक्लेश परिणाम करके मरण होने से यह मेंढक बना। तो सेठानी को उस मेंढक पर कुछ दया तो आयी, मगर यह तो उससे नहीं हो सकता जो मनुष्य की पर्याय में उससे होता था। उसका तो भव ही बदल गया। तो आप बतलावो कि किसका कौन है?

मोहविकल्पों की स्वप्नसमता- जितनी देर को मोह जग रहा उतनी देर को यह स्वप्न जैसी बात चल रही है समझिये। जैसे कोई ऐसा स्वप्न आया कि हमें बड़ा राजपाट मिल गया, बड़े अच्छे सुख के साधन मिल गए, बड़े ठाठबाट हैं, तो वह स्वप्न का ठाठबाट कितने समय का है? वही दो चार मिनट का, जब तक कि वह स्वप्न चल रहा है। और जहाँ ही वह स्वप्न मिटा, आँखें खुलीं, बस वह सारा ठाठबाट मिटा। वह सुख तो केवल कल्पना का है। साधन कुछ नहीं है। है उसका कुछ नहीं। ऐसे ही मोह की नींद में यह 10-20-50 वर्ष का स्वप्न है। जब मोह नष्ट होता है, अज्ञान नष्ट होता है, नींद खुलती है तो ये ही सारी चीजें इसके लिए फिर कुछ नहीं रहती। तो ऐसा स्वप्न जैसा मिलाप हुआ है। बुद्धिमानी का तो यह कर्तव्य है कि इस स्वप्न जितने मिलाप में धार्मिक समागम बनाकर, ज्ञानप्रचार करके, ज्ञानमय अपना जीवन बनाकर दूसरों को भी मुक्ति के मार्ग में लगायें और खुद भी मुक्ति के मार्ग में लगें, यह है असली प्रीति। घर में रहने वाले पति, स्त्री, पिता, पुत्रादिक, इन सबका परस्पर में ऐसा व्यवहार बने कि एक दूसरे को धर्म में चलने की प्रेरणा मिले, ज्ञानार्जन में बढ़ने की प्रेरणा मिले, परस्पर में आत्मतत्त्व की चर्चायें हुआ करें, ऐसा यदि जीवन बने तो घर में रहने वालों की वह प्रीति सच्ची प्रीति समझिये, और ऐसा विषय साधने के लिए, मोह बढ़ाने के लिए ही यदि परस्पर का राग भरा व्यवहार रहा तो ये दिन तो रहेंगे नहीं, निकल जायेंगे, फल इसका यह होगा, मरण तो होगा ही, दुर्गतियों में, किन्हीं भी भवों में भ्रमण करेंगे। इस पाये हुए दुर्लभ नरजीवन से कोई फायदा नहीं उठाया जा सकता। तो इस झूठे मोह से हटकर आत्मा का जो सत्यस्वरूप है उस सत्यस्वरूप में उपयोग ले जाना है। देखिये जब ज्ञान ज्ञानस्वरूप निज में प्रविष्ट हो जायगा फिर दुनिया में कहीं कुछ हो, उससे आपको कोई नुकसान नहीं, कोई दु:ख नहीं। तो चाहे कितनी ही स्थितियों में फँसे हों, कितने ही बाहरी काम अधूरे पड़े हों, कितनी ही व्यवस्था अधूरी रह गयी हो, निर्णय यही रखना होगा कि यह मैं ज्ञान अपने ज्ञानस्वरूप में निमग्न हो जाऊँ, फिर मेरे लिए कुछ भी अधूरा नहीं है, कुछ भी अव्यवस्था नहीं है, यही सर्वसंकटों से छूटने की स्थिति है। अपने में आत्मानुभूति के लिए प्यार जगाना चाहिए। बाह्य वस्तुवों के प्रति जो प्रीति जगती है वह तो व्यर्थ है, अनर्थ है।

प्रभुभक्ति में शुद्ध तत्त्व का अनुराग- प्रभु का स्वरूप परमपावन ज्ञानदर्शनमय है। उसमें यह समाधि का भक्त पुरूष अपना उपयोग बना रहा है और यही याचना कर रहा है कि हे प्रभो ! आपके चरणारविन्द की भक्ति ही मुझे प्राप्त हो, मैं यही माँगता हूं, यही माँगता हूं, अन्य मेरी कुछ वान्छा नहीं है। प्रभुभक्ति व्यर्थ नहीं जाती। कोई अज्ञानी भी अगर प्रभुभक्ति करे तो अधिक लाभ उसे नहीं होता, फिर भी कुछ पुण्य तो बँध ही जाता है। न मोक्ष का मार्ग उसे मिला, न सत्यपथ का दर्शन हुआ, लेकिन पुण्य तो हो ही गया। पाप बाँधता, नरक में जाता, उससे तो अच्छा ही हुआ कि पुण्य बंध हुआ, देवगति मिली अथवा अच्छी मनुष्यगति मिली। इस पाप की अपेक्षा तो अच्छा ही है। अपेक्षाकृत कुछ लाभ तो है ही, लेकिन वह लाभ स्थायी नहीं हैं। पुण्योदय में कुछ ऋद्धियाँ सिद्धियाँ प्राप्त हो गयीं, कुछ क्या मिल गया, लेकिन पाप के

परिणाम में उसे दुर्गति में जाना होगा, इसलिए अज्ञानी के पुण्य बँधता है उससे उसे कुछ लाभ नहीं हुआ। थोड़ी देर को जरा सा उसने सुख मान लिया वह भी आकुलता और क्षोभ से भरा हुआ है। इसी तरह संतों का यह मूल उद्देश्य है कि सम्यग्ज्ञान उत्पन्न करो। ज्ञान बिना उद्धार न होगा।

आत्मा की ज्ञानघनता व सारभूतता- ज्ञान से आपको यह विदित हो जायगा कि यह मैं आत्मा आकाश की तरह निर्लेप हूं तब मैं अमूर्त हूं। इसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं हैं, क्या कोई आत्मा काला पीला नीला आदिक है? क्या कोई आत्मा खट्टा मीठा आदिक है? क्या कोई आत्मा रूखा, चिकना आदिक है? जब आत्मा में रूप, रस, गंध स्पर्श आदि कुछ नहीं हैं तो यह अमूर्त ही तो हुआ। आकाश भी अमूर्त है। जैसे आकाश में आग जलायें। तलवार चलायें, धूल फैंकें तो उससे आकाश का सम्बंध नहीं होता। आकाश अपने आपमें निर्लेप है, इसी तरह यह आत्मा भी आकाश की तरह अमूर्त है, इस कारण निर्लेप है, इसमें किसी दूसरे का सम्बंध नहीं होता। यह आत्मा चेतन है, उपयोग स्वरूप है। मलिन दशायें कल्पनायें बनाता, इच्छा करता तो बस यह ही मलिनता है और इन मलिनताओं के कारण बाह्य चीजों का सम्पर्क लगा हुआ है, इतने पर भी आत्मा अब भी अपने आपमें अमूर्त है। इसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि मलिनतायें नहीं होती। ऐसा अमूर्त यह आत्मा केवल ज्ञानस्वरूप है, इसकी शकल, इसका स्वरूप, इसका सर्वस्व ज्ञान ही ज्ञान है। ज्ञान के सिवाय आत्मा में और कोई बात नहीं पायी जाती है। इसीलिए आत्मा को ज्ञानपुन्ज कहा गया है, आत्मा को ज्ञानघन भी कहते हैं। घन उसे कहते हैं जिसके भीतर किसी दूसरी चीज का मिलाप न हो। जैसे कोई लकड़ी बिल्कुल ठोस है तो लोग कहते हैं कि यह लकड़ी घन है और कोई पोली लकड़ी है तो लोग कहते कि यह लकड़ी तो बोगस है। तो ठोस में, घन में यह बात आ गयी कि यह लकड़ी सारभूत होकर निरन्तर वही की वही है। उसके भीतर अन्य कोई तत्त्व नहीं है। यही तो ठोस का मतलब है। बोगस लकड़ी का मतलब है कि इस लकड़ी के अन्दर बीच-बीच बहुत अन्तर है। इसमें कोई ठोस नहीं है। तो यह आत्मा ज्ञान से ठोस है। आत्मा में ज्ञान ही ज्ञान पड़ा हुआ है, और अन्य बात का इसमें प्रवेश नहीं है। ऐसा ज्ञानघन है आत्मा। इसमें सर्वत्र ज्ञान ही ज्ञान है। इस आत्मा का दर्शन करना चाहें, आत्मा से मिलाप करना चाहें तो आत्मा को केवलज्ञान ज्ञान के रूप में ही यह ज्ञान जाने तो आत्मा का दर्शन होगा, अन्य विधि से आत्मा का दर्शन न होगा। जब कभी बाह्य पदार्थ का विकल्प तोड़कर अपने आपमें केवल ज्ञान ही ज्ञान दिखेगा तो आत्मा का दर्शन होगा। दर्शन आँखों से न होगा किन्तु अनुभव से, ज्ञान से आत्मा का दर्शन होगा। और उस दर्शन के द्वारा ही आप प्रभु का दर्शन कर लेंगे। ऐसे ही तो प्रभु हैं जहां केवल ज्ञान ही ज्ञान रह गया ठोस, दूसरी चीज का मेल नहीं बस उसी को तो प्रभु कहते हैं।

शकुनों में आत्मा की सुध का सम्बंध- लोक में जितने भी शकुन माने जाते हैं वे सब शकुन तब शकुन कहलाते हैं जब वे आत्मा की याद दिलाते हैं। जो-जो बात आत्मस्वरूप की याद दिलाने में कारण

पड़े वह लोक में शकुन कहलाती है लेकिन मोही जन इस रहस्य को तो भूल गए, चीज तो शकुन मानने में वही रखी, पर ढंग बदल दिया। जैसे कोई पानी से भरा हुआ घड़ा सिर पर रखे हुए चला जा रहा हो तो लोग उसे देखकर मानते हैं कि मुझे आज शकुन हुआ है। लेकिन वह पानी और मिट्टी का घड़ा शकुन नहीं है। उस पानी से लबालब भरे हुए घड़े को देखकर आत्मा की याद आ जाती है कि जैसे यह घड़ा पानी से लबालब भरा हुआ है इसमें बीच में कोई अन्तर नहीं पड़ा है। यदि घड़े में चने भरे हों तो उसके भीतर ठोस नहीं हो सकता, बीच-बीच में अन्तर रहेगा तो इसी तरह से यह आत्मा ज्ञानजल से लबालब भरा हुआ है। इसके बीच कहीं भी अन्तर नहीं है। इस आत्मा की याद दिलाने के कारण यह जल से भरा हुआ घड़ा शकुन माना जाता है। लेकिन इस बात को लोग भूल गए, रूढ़ि में यही बात पकड़ ली। और भी देखिये यदि सामने दिख जाय कि लोग मुर्दा (अर्थी) लिए जा रहे हैं तो लोग उसे शकुन मानते हैं, क्योंकि वह मुर्दा देखकर अपने आत्मा की याद आती है। अरे ! यह संसार असार है, यहाँ का सब कुछ विनाशीक है, मरण हो जाने पर कुछ भी साथ नहीं जाता। इस प्रकार की आत्मदृष्टि होने के कारण वह मुर्दा शकुन माना गया है। तो प्रयोजन यह है कि आत्मतत्त्व का ज्ञान हो जाय, बस यही मात्र एक वैभव है इस नश्वर जीवन में, जिसमें मरण निश्चित है। इस जीवन के थोड़े समय में यदि आत्मज्ञान की बात प्राप्त कर ली तो समझिये कि हमने अपना जीवन सफल किया और अगर यह ज्ञान काम न कर सके तो जैसे अनन्त भव पाये, जन्मे, मरे, लाभ कुछ न पाया, इसी तरह से इस नरजन्म को पाकर भी व्यर्थ ही खो दिया। जब यह आत्मा केवल ज्ञानस्वरूप में ही ज्ञान को लेता है तो उस समय इसे अपनी प्रभुता के दर्शन होते हैं। आत्मा का दर्शन होता है। आत्मा को पाने वाला यह समाधिभक्त संत यही अभ्यर्थना करता है कि हे प्रभु ! इस ज्ञानपुन्ज में, इन आपके चरणों में, इस स्वरूप में मेरी भक्ति निरन्तर बनी रहे, मैं यही माँगता हूं, केवल यही माँगता हूं।

श्लोक 19

विघ्नौघा: प्रलयं यान्ति शाकिनीभूतपन्नगा:।

विषं निर्विषतां याति स्तूयमाने जिनेश्वर ।।19।।

समाधिमूर्ति जिनराज के स्तवन की महिमा- समाधिभक्ति का यह अंतिम छन्द है। जिनेन्द्र भगवान के स्तवन की महिमा बतायी जा रही है। प्रभु का स्तवन करने पर समस्त विघ्नसमूह प्रलय को प्राप्त हो जाते हैं। पिशाचिनी, भूत, सर्प आदिक ये सब शिथिलता को प्राप्त हो जाते हैं। प्रभुभक्ति में यह उपयोग कहाँ जाता है? एक ज्ञानस्वरूप में। ज्ञानस्वरूप में ज्ञान पहुंचे तो वहाँ ऐसी निर्विकल्पता होती है, ऐसी अकषायता जगती है कि ये भव-भव के पड़े हुए कर्मबन्धन ढीले हो जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं। पापों का भार जहाँ दूर हुआ, इस आत्मा को अनेक ऋद्धियाँ सिद्धियाँ सहज ही प्राप्त हो जाती हैं। और ये बातें तो

एक ज्ञानपुन्ज प्रभु की महिमा में एक उपचार के रूप में बतायी जा रही हैं। जैसे कोई खेती करता है तो वह खेती की महिमा गाये कि खेती करने से तो पचासों मन भुस पैदा हो जाता है तो यह उसकी कोई असली खेती की महिमा नहीं हुई। यह तो एक उपचार की बात है। यदि ऐसी महिमा गाये कि खेती करने से अनाज पैदा होता है जिससे प्रजाजनों के संकट दूर होते हैं और सबको सुख से जीवन रखने का कारण बनता है तो वह सच्ची महिमा है। तो ऐसे ही प्रभु जिनेन्द्रदेव का स्मरण करने से जो लौकिक बाधायें दूर होती हैं वह तो खेती करके भुस प्राप्त करने की तरह है। उसका वास्तविक फल तो यह है कि ज्ञानपुन्ज प्रभु की भक्ति करने से, ज्ञान में ज्ञान समा जाने से कर्मसंकट जन्ममरण भय संसार सदा के लिए नष्ट हो जाते हैं, यह है ज्ञानपुन्ज की भक्ति का उत्कृष्ट फल।

जीव की वास्तविक बाधा और समाधिमूर्तिभक्ति से बाधापरिहार- इस जीव को बाधा है क्या? रागद्वेष मोह की कल्पनायें जगना, यही बाधा है। दूसरी आत्मा के अन्दर कोई बाधा नहीं है। जिन्हें लोग बाधा समझते हैं कोई रोग हो गया, धन कम हो गया, अपने पास आराम के साधन नहीं हैं आदि, तो ये बाधायें नहीं हैं। ये सब तो जीव के भ्रम हैं। जीव को बाधायें ये हैं जो भीतर में कल्पनायें जगें, कषाय जगें, रागद्वेष मोहादिक जगें, कुछ साधन नहीं हैं, नहीं रहें तो न सही, यदि ज्ञानप्रकाश जग जाय और ज्ञान ज्ञान में ही लीन हो जाय तो फिर कोई बाधा नहीं रहती। तो इस जीव की बाधा है असमाधि। समाधिभाव न जगना, रागद्वेष मोह के परिणाम उठाना दूर हो, समाधिभाव प्रकट हो तो यह बाधारहित हो गया। तो इस ज्ञानी पुरूष को केवल एक समाधि ही इष्ट है, और वह समाधि कैसे जगती है? तो पहिले तो शास्त्राभ्यास करना, श्रुतज्ञान बढ़ाना, उससे भीतर में एक अन्तर्भावना बनायें और अपने आत्मा के अभिमुख अपने ज्ञान को लगायें। यही है अन्तस्तत्त्व, यही है समाधिभाव। तो अपने आत्मा के अभिमुख अपने ज्ञान को लगाना, ऐसा इस देव का, ऐसा इस ज्ञानस्वरूप का दिखना होना, जब तक वितर्क विकल्प भी छूट जाते हैं और मात्र ज्ञान नेत्र से ही इस ज्ञानस्वरूप को यह निहारता रहता है उस समय इसमें समाधिभाव प्रकट होता है। ऐसा समाधिभाव जगने पर संसार का कोई कष्ट नहीं रहता। इस समाधिभाव की ज्ञानी याचना कर रहा है और इस समाधि के रूप में ही प्रभु को निरख रहा है। इस समाधि की ही यह प्रतीक्षा कर रहा है। हे नाथ ! मेरे रागद्वेष मोहरहित, विकाररहित, ज्ञानानुभवरूप परमसमाधि प्रकट हो, इस ही में मेरा कल्याण है और यही एकमात्र अभ्यर्थनीय परमतत्त्व है।

समाधिभक्ति प्रवचन समाप्त